




Printed and Published

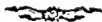
by—Shrilal Jain Kavyatirth

JAIN SIDDHANT PRAKASHAK PRESS,

9, Varakosha Lane Baghbazar, Calcutta.



प्रकाशकीय वक्तव्य ।



जैन समाजमें प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होनेकी पृथा दिन पर दिन पंद होती जाती है। लोग अपनी दृढधर्मिक भावनेमें न्याय अन्याय सबको न्यायका रूप देकर करणीय सामझनेमें ही चातुरी सम्झते हैं इसलिये ऐसे ग्रंथकी जिसमें मुनि और शुद्ध सबको शुद्ध होनेकी पद्धतिका वर्णन है, प्रकाशित होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। शायद भंडारोंमें इस विषयका कोई हिंदी भाषामय ग्रंथ भवनोत्पन्न करनेमें नहीं आता था इसलिये (भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्थान) अपने उद्देशानुसार इसको प्रकाशित किया है।

श्रीगोपाल जैनसिद्धांतविद्यालय मुरनाके प्रधानाध्यापक पं० पद्मानाभजी सोनीने इसकी हिंदी टीकाकर संस्थाको अनु-मोदित किया है इसके लिये आपको धन्यवाद है। पंडितजीने यह हिंदी वर्णनिका एक संस्कृत टीकाके आधारसे की है जो श्री ऐश्वर्य पद्मानाभ सरस्वतीभवन वंदरने प्राप्त हुई; इसलिये भवनके संचालकोंको धन्यवाद है, मू. संशोधनमें यद्यपि सावधानी रखी गई है ना भी दृष्टिदोषमें पड़ति रह जाना बहुत

कुछ संभव है। अतः जिन महाशयोंको शब्द वा अर्थकी अगुद्धि प्राप्त हो सके वे अवश्य सूचित करनेकी कृपा करें।

आजसे लगभग दो साल पहिले हम श्रीमदेवाधिदेव गोम्पटेश्वरके अभिषेक जयसे पवित्र होनेके, लिये श्रवणबेल गोल्ला (जैनचट्टी) गये थे उस समय शोलापुर वासी श्री. छिवर्य रावजी सखाराम दोशीकी अनुपतिसे आलंद (शोलापुर) वासी श्री छिवर्य माणिकचंद पोतीचन्दजीने इस ग्रंथके प्रकाशनार्थ पाँचसौ रुपये इस शर्तपर देना स्वीकार किया था कि—ग्रंथ प्रकाशित होकर न्योछावर आनेबाद संस्था उन्हें रुपये वापिस भेजदे तदनुसार आपकी सहायता माहकर यह ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है। उक्त दोनों सेठ साठवोंको कोटिशः धन्यवाद है जिससे मुनि और गृहस्थ दोनोंको अपनी अपनी शुद्धि होनेका आगमोक्त मार्ग मालूम हो जायगा और वे शुद्ध हो सकेंगे।

पिती माद्रपद शुद्ध पाँचवीं ।

निवेदक—

हृदस्पतिवार वीर सं० २४५३ ।

श्रीसाल जैन काव्यतीर्थ

पत्रो—भा० जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था

६ विश्वकोषलेन, बापवाजार, कलकत्ता



ओषोतरगाय ममः ।

मनातन जैनप्रथमाला

२२

श्रीमद्-गुरुदासाचार्यविरचित

प्रायश्चित्त-समुच्चय

(हिंदीटीका सह)



मंयमामलमद्रवगभीरोदरमागरान् ।

श्रीगुरुत्नादसद्गुरुन्दे स्तन्याविपुद्गये ॥ १ ॥

अर्थ—जो संवत्सर निर्गम और समोचीन रत्नांके अगाध और उदार समुद्र हैं उन श्रीगर्भान्नादि पंच गुरुओंको स्तन्यपकी विशुद्धिके लिए भक्ति-भावसे नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—जो जिस गुण का उपाधुक्त होता है वह उसी गुणवानेकी सेवा शुभ्रपा करता है । जैसे धनुष बनानेको रियासीग्यनेराना पुरुष उस धनुषरियाकी जानने और बनानेबाने-

की उपासना करता है । अन्यर्था मगवान् गुरुदास आचार्य भी रत्नत्रयकी विद्युद्दिके इच्छुक हैं । अतः वे रत्नत्रयसे विद्युद् पंच परमेष्ठोको नमस्कार करते हैं । श्रीगुरु नाम पंच परमेष्ठोका है । यह नाम इस व्युत्पत्तिसे सम्बन्ध होता है । श्रीनाम सम्पूर्ण वस्तुओंकी स्थिति जैसी है वैसेकी वैसे जाननेमें समर्थ ऐसी परिपूर्णा और निर्मल केवलज्ञानादि लक्षणीका है उस लक्षणी कर जो संयुक्त हैं वे श्रीगुरु हैं । ऐसे श्रीगुरु तीनकालके विषय-भूत पंच परमेष्ठो ही होते हैं । तथा वे श्रीगुरु रत्नत्रय कर विद्युद् हैं । यदि वे स्वयं रत्नत्रयसे विद्युद् न हों तो औरोंकेलिए रत्नत्रयकी विद्युद्दिके कारण नहीं हो सकते । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका नाम रत्नत्रय है । संयम नाम सम्यक्चारित्र्यका है वह पांचप्रकारका है । साधायिक, छेदोप-स्थापना, परिहार विद्युद्भि, मूढपसांपराय और यथाख्यात । यह पांचों प्रकारका चारित्र्य सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है । अतः संयम विशेषणकी सापेक्ष्यसे वे रत्नत्रयके गंभीर और उदार समुद्र हैं यह अर्थ सम्बन्ध होता है ॥ १ ॥

भागे शास्त्र-समुद्रकी स्तुति करते हैं—

भावा यत्राभिधीयन्ते हेयादेयविकल्पतः ।

अप्यतीचारसंशुद्धिस्तं श्रुतान्विमभिष्टुवे ॥ २ ॥

१ । विकल्पितः इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हेय और आदेय भावोंका तथा भतीचारोंकी सुद्धि का जिसमें वर्णन पाया जाता है उस श्रुत—समुद्रको नपस्कार करता है ।

भावार्थ—भाव शब्दका अर्थ पदार्थ और परिणाम दोनों हैं । मत्पेकके दो दा भेद हैं । हेय और आदेय । यहाँ पर भती-के भतीचार हेय भाव हैं और मूँतना, टहो करना आदि व्यवश्य करने योग्य आदेय भाव हैं । तथा कवायोद्घाटन आदि भती गर हैं इन सबका वर्णन श्रुत समुद्रमें पाया जाता है । उसी श्रुत समुद्रकी यहाँ स्तुति की गई है ॥ २ ॥

आगे ग्रन्थका नाय निर्देश करते हैं—

पारंपर्यक्रमायातं रत्नत्रयविशोधनं ।

संक्षेपात् संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तसमुच्चयं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो परंपराके क्रमसे चला आ रहा है, जिसमें रत्न-त्रयकी विमुद्धि पाई जाती है उस प्रायश्चित्त-समुच्चय नापके ग्रन्थको संक्षेपमें कहना है ।

प्रायश्चित्तं तपः प्राज्यं येन पापं पुरातनं ।

क्षिप्रं संक्षीयते तस्मात्तत्र यत्रो विधीयतां ॥ ४ ॥

अर्थ—यह प्रायश्चित्त व्रत भारी तपश्चरण है जिससे परसे किये हुए पाप क्षीय नष्ट हो जाते हैं । इसलिये प्रायश्चित्तके करनेमें व्यवश्य बल करना चाहिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—शायक्षित देनेकी विधि भी अवश्य जानना चाहिए ॥ ७ ॥

भाग पंचकल्याणके नाम गिनाते हैं—

स्वस्थानं मासिकं मूलगुणो मूलममी इति ।

पंचकल्याणपर्याया गुरुमासोऽथ पंचमः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वस्थान, मासिक, मूलगुण, मूल और पांचवां गुरुमास ये पांच पंचकल्याणके विशेष नाम हैं ।

भावार्थ—पंच आचाम्ब, पंच निर्विकृति, पंचगुह्यमंदन, पंच एकस्थान और पंच उपवास इनके निरंतर अर्थात् ध्वज-धानरहित करनेको पंचकल्याण कहते हैं । कल्याणका सत्तुण भाग कहेंगे । पांच कल्याण जहां पर हों वही पंचकल्याण है । जिसके ये ऊपर कहे गये पांच पर्याय नाम हैं ॥ ८ ॥

भाग सधुपासका स्वरूप बताते हैं—

नीरसेऽप्यथवाचाम्ले क्षमणे वा विशोधिते ।

ज्ञात्वा पुरुषसत्त्वादि लघुर्वा सान्तरो गुरुः ॥ ९ ॥

अर्थ—पुरुष, उसका सत्व-धर्म, आदि शब्दसे सब, परि-णाम आदि जानकर पूर्वोक्त पंचकल्याणमें नौरम अर्थात् निर्विकृति, अथवा आचाम्ब या उपवासको ब्रह्म कर देना सधुपास है । अथवा पूर्वोक्त पांशोंको निरंतर करना गुरु-मास है उसी गुरु-मासको ध्वजधानरहित करना सधुपास है ।

माचार्य—रसरहित आहारको निर्विहति करने है और
 कानिष्ठ—सोबोरसे रहित मोहनको आचाम्न करने है । पांच
 आचाम्न, पांच निर्विहति, पांच गुरुपंडित, पांच एकस्थान और
 पांच उपवास इनमेंसे पांच निर्विहति अथवा पांच आचाम्न या
 पांच उपवास कय कर देना अर्थात् इन तीनमेंमें किसी एक कर
 रहित अवशिष्ट चार की सधुपास संज्ञा है । तदुक्तं—

उपवासपंचए वा आयंविलपंचए व गुरुमासादो ।
 निर्विहतिपंचए वा अथणीदे होदि लहुमासं ॥

अर्थात्—गुरुमास अर्थात् पंचकल्याणमेंसे पांच उपवास,
 अथवा पांच आचाम्न अथवा पांच निर्विहति कय कर देने पर
 सधुपास होता है ।

छेदशास्त्रकी अपेक्षा आचाम्न, निर्विहति, गुरुपंडित और
 एकस्थान इनमेंसे किसी एकको कय कर देने पर सधुपास
 होता है । यथा—

आदीदो चउमज्जे एक्कहरवाणियम्मि लहुमासं ।

अर्थात्—छेद शास्त्रके पाठानुसार क्षमण-उपवासका पाठ
 सबके अन्तमें है उनमेंसे उपवासको छोड़कर अवशिष्ट चारमेंसे
 किसी एकको घटा देना सधुपास है । सबका सारांश यह
 निकला कि इन पांचोंमेंसे किसी एक कर रहित अवशिष्ट चार-
 की सधुपास संज्ञा है । अथवा पंचकल्याणकी व्यवधानसहित
 करना भी सधुपास है ॥ ६ ॥

आगे भिन्नपासका सवञ्च बताते हैं:—

पंचस्वथापनीतेषु भिन्नमासः स एव वा ।

उपवासेस्त्रिभिः षष्ठमपि कल्याणकं भवेत् ॥ १० ॥

अर्थ—एक आचाम्न, एक निर्विकृति, एक पुरुषंदस, एक एकस्यान और एक उपवास ये पाँच कर्म कर देने पर वही ऊपर कहा हुआ गुरुवास भिन्नपास हो जाता है। तथा तीन उपवासोंका एक षष्ठ होता है और कल्याणक भी होता है।

भावार्थ—निर्विकृति, पुरुषंदस, आचाम्न, एकस्यान और छमण इनको एक कल्याण कहते हैं ऐसे पाँच कल्याणोंका एक पंचकल्याण होता है। यथा—

णिज्वियदी पुरिमंदलमायामं एयठाण स्वमणमिदि ।

कल्लाणमेगमेदेहि पंचहि पंचकल्लाणं ॥

इस गाथाका अर्थ ऊपर आ गया है। इन्हीं पंचकल्याणोंमें से एक कल्याण कर्म कर देने पर भिन्नपास हो जाता है अर्थात् चार कल्याणोंका एक भिन्नपास होता है अथवा चार आचाम्न, चार निर्विकृति, चार पुरुषंदस, चार एकस्यान और चार छमण इनको भिन्नपास कहते हैं। छठी भोजनकी बेधामें पारणा करना षष्ठ है। अर्थात् एक दिनमें दो मोमनकी बेधा होती है।

१—आऊण पुरिममल विसं पययिमायिरत्त' अ ।

एकदिन २ कल्लाणं अवयोदे भिन्नपासा से ।

एकका शरणेके दिन त्याग करना ही दिनामें नाशका त्याग
करना और एकका शरणके दिन त्याग करना उस तरहके नौ
उपवास करना या छठ भाजनही त्याग त्याग करना पष्ट
तथा निम्न, गण आनाम्न, गण निर्वाहति, गण पुष्पेद
एक एकस्थान, और गण उपवास करना कल्याणकहे ॥ १२ ॥

आगे कायोन्मर्ग मात्र उपवासका प्रमाण बनाने ॥ -

कायोन्मर्गप्रमाणाय नमस्कारा नवादिताः ।

उपवासस्तनृत्मर्गे भवेद् द्वादशकैः ॥ ११ ॥

अर्थ—नौ पंच नमस्कारोंका एक कायोन्मर्ग है ताहे में
बारह कायोन्मर्गोंका एक उपवास होता है ।

भावार्थ—शुभो अरुन्ताण, शुभो मिद्धार, शुभो आट
याण, शुभो उवस्कायाण, शुभो नाच नस्वमाहण यह एक प
नमस्कार है ऐसे नौ पंचनमस्कार एक कायोन्मर्ग माने
और एक उपवासमें ऐसे ही बारह कायोन्मर्ग होते हैं । यथा—
णवपंचणमोक्षारा काउसग्गम्मि होति एगम्मि ।
एदेहि वारमेहि उववात्तो जायदे एक्को ॥ —छेभि

तथा—

एकम्मि विउत्सग्गे णव णवकारा हवन्ति चारमहिं
सयमटोत्तरमेदे हवन्ति उववात्ता जस्स फलं ॥

अर्थात्—एक पुरस्कर्तृमें नौ पंचनमस्कार होते हैं। पारद पुरस्कर्तृमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। इन एक सौ आठ पंच नमस्कारोंके जरनेका फल एक उपवास है। तथा कायोत्सर्गके और भी अनंक भेद हैं। तदुक्त—

यदेवसियं अट्टं सयं पक्षिलय च तिष्ठिण सया ।

चाउम्मासे चउरो सयाणि मेवदनरे य पंचमया ॥

भावार्थ—एक सौ आठ पंचनमस्कारोंका दंडसिद्ध कायोत्सर्ग होता है या दंडसिद्ध कायोत्सर्गमें एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। तथा पक्षिकमें तीन सौ, चातुर्पासिकमें चार सौ और सांख्यिकमें पांच सौ पंच नमस्कार होते हैं ॥ ११ ॥

आचाम्लेन सपादोनस्तत्पादः पुरुमंडलात् ।

एकस्थानात्तदर्थं स्यादेवं निर्विकृतेरपि ॥ १२ ॥

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् वर्जित भाजन करनेसे वह उपवास चतुर्थांश हीन हो जाता है अर्थात् चार हिस्सोंमेंसे एक हिस्सा प्रमाण कम हो जाता है—तीन हिस्सामात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। भोजनारम्भ के भोजन के बेलको पुरुषंडल कहते हैं। इस पुरुषंडलसे वह उपवास चतुर्थांश—चौथा हिस्से परावर रह जाता है। तथा तीन मुहूर्त तक के भोजनके कालमें एक ही स्थानमें पैरोंका संचार न कर भोजन करना एकस्थान है। इस एकस्थानके करनेसे वह उपवास आधा ही रह जाता है। और—

निर्विकृति आहारके करनेसे भी उदरगत आया ही रह जाता है ।

छेदपि और छेदशास्त्रमें भी ऐसा ही कहा है । यथा—

आयं विलोम्हि पादूण स्वमण पुरिमंडले तथा पादो ।

एयद्वाने अहं निर्वियडोओ य एमेव ॥

इसका अर्थ ऊपर आ गया है ॥ १२ ॥

अष्टोत्तरशतं पूर्णं यो जपेदपराजितं ।

मनोवाक्कायगुप्तः सन् प्रोपधफलमश्नुते ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिको धारण कर अपराजित पंचनपस्कार संप्रको परिपूर्ण एक सौ आठ बार जपता है वह एक उपवासके फलको पाता है ॥ १३ ॥

षोडशाक्षरविद्यायां स्यात्तदेव शतद्वये ।

त्रिशत्यां षड्वर्णेषु चतसृष्वपि चतुःशते ॥ १४ ॥

अर्थ—सोनेह अक्षर वाले मन्त्रकी दो सौ जाप देने पर भी एक उपवासका फल होता है । तथा छह अक्षरवाले मंत्रकी न सौ और चार अक्षर वाले मंत्रकी चार सौ जाप देने पर भी

१ । आचार्ये वाक्शेन समर्थं पुरुमंडले तथा पादः ।

एकस्थाने अर्थ निर्विकृतौ च एवमेव ॥

षोडशाक्षरविद्यायाः फलं जप्ते शतद्वये

षड्वर्णत्रिशते चाष्टोत्तरशतद्वये चतुःशते ॥ १ ॥

एक एक उपवासका फल होता है । 'अरहंत, सिद्ध, आपरिप,
ववज्झापासाहु' यह सोमह भद्रोंका 'अरहंत सिंसा' यह
छह भद्रोंका और 'अरहंत' यह चार भद्रोंका मन्त्र है ॥ १४ ॥

अकारं परमं बीजं जपेद्यः शतपंचकं ।

प्रोपधं प्राप्नुयात् सम्यक् शुद्धबुद्धिरतंद्रितः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो निमन्त्रबुद्धिवासी पुरुष आनसरहित होता
हुआ परमोच्छिष्ट अकार बीजाक्षरको पांच सौ बार अच्छी तरह
जपता है वह एक उपवासका फल पाता है । तदुक्त—

पणतीसं सोलसयं उच्यतेपयं च वण्णवीयाहं ।

एतत्तरमहसयं साहिए पं (पं) च खमण्डं ॥

अर्थ—एक सौ आठ बार जपा हुआ वैतोम भद्रोंका आप,
दोसौ बार जपा हुआ सोमह भद्रोंका आप, तान सौ बार जपा
हुआ छह भद्रोंका आप, चार सौ बार जपा हुआ चार बीजा-
क्षरोंका आप और पांच सौ बार जपा हुआ पद—एक भवार
या भोंकार बीजाक्षरका आप एक उपवासके लिए होता
है ॥ १५ ॥

इति संज्ञापिकाः प्रथमा ॥ १ ॥

प्रतिसेवाधिकार ।

अथम ग्रन्थके अधिकारोंका कथन करते हैं:—

प्रतिसेवा, ततः कालः क्षेत्राहारोपलब्धयः ।

पुमांश्छेदो विपश्चिद्धिर्विधिः पोडात्र कीर्त्यते ॥१६॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष इस प्रायश्चित्त-समुच्चय भाषके अनादिनिगम शास्त्रमें छः अधिकारोंका वर्णन करने हैं । पहला अनिगम नामका अधिकार है जिसमें सन्नित, अचिन्त और मिश्रद्रव्यके आश्रयके दोषोंके भक्षण करनेका कथन है । उसके बाद दूसरा कायाधिकार है जिसमें शीतकाय, उष्णकाय और वर्णान्तके आश्रयके प्रायश्चित्त देनेका कथन है । उसके बाद त्रेमाधिकार है जिसमें स्निग्ध, रुचु, मिश्र आदि त्रैकोंके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है । चौथा आगमात्प्राप्त्य नामका अधिकार है जिसमें उच्छृष्ट, मध्यम और तपन्य आहार प्रातिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेका विधान है । उसके बाद पांचवां पुरुषाधिकार है जिसमें बह पुरुष धर्ममें स्थिर है या अस्थिर है, आगमज्ञ है या अनागमज्ञ है अद्यावु है या अभ्याद्यावु है इत्यादि पुरुषाश्रित प्रायश्चित्त का कथन है । उसके बाद छठा प्रायश्चित्ताधिकार है जिसमें द्गुवकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन है ॥ १६ ॥

उद्देशानुसार यदिने प्रतिसेवाका कथन करते हैं,—

निमित्तादनिमित्तान्न प्रतिसेवा द्विधा मता ।

कारणात् षोडशोद्दिष्टा अष्टभंगास्तथेतरे ॥१७॥

अर्थ—निमित्तसे और अनिमित्तसे प्रतिसेवा दो तरहकी
मानी गई है । उनमें जो कारणसे सोलह तरहकी कही गई है ।
इसी तरह अकारणसे आठ भंग होते हैं । भावार्थ—उपसर्ग
स्वादि निमित्तोंको पाकर दोषोंका सेवन करना और
इन निमित्तोंके बिना दोषोंका सेवन करना इस तरह प्रतिसेवाके
दो भेद हैं । उनमें जो प्रत्येकके अर्थात् निमित्त प्रतिसेवाके
सोलह और अनिमित्त प्रतिसेवाके आठ भेद होते हैं ।

सांगं—कारणकृत प्रतिसेवाके सोलह भंग और अकारण-
कृत प्रतिसेवाके आठ भंग होते हैं ॥ १७ ॥

सहेतुकः सकृत्कारी सानुवीची प्रयत्नवान् ।

तद्विपक्षा द्विकाः संति षोडशाऽन्योऽन्यताडिताः ॥

अर्थ—सहेतुक—उपसर्गादि निमित्तोंको पा कर दोषोंको
सेवन करने वाला १ सकृत्कारी—जिसका एक बार दोषसेवन
करनेका स्वभाव है । सानुवीची—अनुवीची नाम अनुकूलता
का है जो अनुकूलताकर सहित है वह सानुवीची है अर्थात्
विचारपूर्णक भागवानुसार धोखेने वाला ३ और प्रयत्नवान्—

पाये जाते अतः घन सप्तको क्रमसे चार जगह २-२-२-२ रखकर परस्पर गुणा करने पर दोषोंकी सोलह संख्या निकल आती इसीको बतनाते हैं—पूर्ण भंग आगादकारणकृत और अनागादकारणकृत ये दोनों ऊपरके सहृत्कारी और असहृत्कारीमें पाये जाते हैं अतः दोनोंको परस्परमें गुणने पर चार भेद हो जाते हैं । ये चारों अपने ऊपरके सानुबोधीमें पाये जाते हैं अतः चारसे दो को गुणने पर आठ होते हैं । तथा ये आठ अपनेसे ऊपरके अयत्नवृत्तिसेवी और अयत्नवृत्तिसेवीये पाये जाते हैं इसलिये आठ को दोमें गुणा करनेसे दोषोंकी सोलह संख्या निकल आती है ॥ १८ ॥

भंगायामप्रमाणेन लघुर्गुरुरिति क्रमात् ।

प्रस्तारेऽत्राक्षनिक्षेपो द्विगुणो द्विगुणस्ततः ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रस्ताररचनामें भंगोंके आयाम प्रमाणके अनुसार लघु और गुरु ये क्रमसे स्थापित किये जाते हैं । तथा द्वितीयादि पंक्तियोंमें वे दूने दूने स्थापित किये जाते हैं । भावार्थ—लघु नाम एकजग और गुरु नाम दोका है । भंगोंका प्रमाण सोलह और पंक्ति चार हैं । प्रथम पंक्तिमें सोलह जगह एक लघु और एक गुरु एकान्तरित स्थापित करे १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, १ २ १ २, तीसरी पंक्तिमें चार लघु और चार गुरु एवं चतुर्तरित १ १ १ १,

उच्चारणा ६ । अनागादकारणकृत, सहृत्कारी, सानुवीची,
अवयत्नसेवी २ १ १ १ यद्द दूसरी उच्चारणा, आगादकारणकृत
असहृत्कारी सानुवीची अवयत्नसेवी १ २ १ १ यद्द तीसरी उच्चा-
रणा । अनागादकारणकृत असहृत्कारी, सानुवीची अवयत्नसेवी
२ २ १ १ यद्द चौथी उच्चारणा । आगादकारणकृत सहृत्कारी
असानुवीची अवयत्नवतिसेवी १ १ २ १ यद्द पांचवीं उच्चारणा ।
अनागादकारणकृत, सहृत्कारी, असानुवीची, अवयत्नवतिसेवी
२ १ २ १ यद्द छठी उच्चारणा । आगादकारणकृत, असहृत्कारी
असानुवीची, अवयत्नवतिसेवी १ २ २ १ यद्द सातवीं उच्चारणा ।
अनागादकारणकृत, असहृत्कारी, असानुवीची अवयत्नवतिसेवी
२ २ २ १ यद्द आठवीं उच्चारणा । आगाद कारणकृत, सहृत्कारी,
सानुवीची अवयत्नवतिसेवी १ १ १ २ यद्द नौवीं उच्चारणा ।
अनागादकारणकृत सहृत्कारी, सानुवीची, अवयत्नवतिसेवी
२ १ १ २ यद्द दसवीं उच्चारणा । आगादकारणकृत, असहृ-
त्कारी, सानुवीची अवयत्नवतिसेवी १ २ १ २ यद्द ग्यारहवीं
उच्चारणा । अनागादकारणकृत असहृत्कारी, सानुवीची,
अवयत्नवतिसेवी २ २ १ २ यद्द बारहवीं उच्चारणा । आगाद
कारणकृत, सहृत्कारी, असानुवीची, अवयत्नवतिसेवी १ १
२ २ यद्द तेरहवीं उच्चारणा । अनागादकारणकृत, सहृत्कारी,
असानुवीची, अवयत्नवतिसेवी २ १ २ २ यद्द चौदहवीं उच्चा-
रणा । आगादकारणकृत असहृत्कारी असानुवीची अवयत्न-
वतिसेवी १ २ २ २ यद्द पन्ध्रहवीं उच्चारणा । अनागाद कारणकृत

माने हैं तब तृतीयाक्ष सानुवीचीको छोड़कर असानुवीचीमें संक्रमण करता है । फिर इस भवके यही स्थित रहने हुए प्रथमाक्ष और द्वितीयाक्ष दोनों संवरण करते हुए भंतको पहुँच जाते हैं तब तीनोंही भव भंतको पहुँचकर और सौटकर जब आदिस्थानको माने हैं तब चतुर्थ भव प्रपत्नपतिसेवीको छोड़कर प्रपत्नपतिसेवीमें संक्रमण करता है । भावार्थ—भेदोंके परिवर्तनको भवसंचार कहने ह. ये आगाद कारणादि भेद पलटते रहते हैं. उन्हींका परिवर्तनका क्रम इस गाथा द्वारा बताया गया है । जिनकी कि उच्चारणा ऊपर बताई जा चुकी है । फिर भी स्पष्टार्थ लिखते हैं—

१ आगाद-कारणकृत, सह्य सानुवीची, यत्नसेवी	११११
२ अनागादकारणकृत " " "	२१११
३ आगादकारणकृत असह्य " "	३२११
४ अनागादकारणकृत " " "	४२११
५ आगादकारणकृत सह्य असानुवीची " "	११२१
६ अनागादकारणकृत " " "	२१२१
७ आगादकारणकृत असह्य " "	३२२१
८ अनागादकारणकृत असह्य " "	४२२१
९ आगादकारण कृत सह्य सानुवीची प्रपत्नसेवी	१११२
१० अनागादकारणकृत सह्य " "	२११२
११ आगादकारणकृत असह्य " "	३२१२
१२ अनागादकारणकृत " " "	४२

अन्ये रूपं प्रतिप' इसके अनुसार एक जोड़े, पांच हुए, इनमें सहकारी और असहकारीका भाग दिया, दो लब्ध भागों और एक बचा। पूर्वोक्त नियमके अनुसार पढ़ना सहकारी समझना चाहिए। फिर लब्ध दोमें एक रूप जोड़नेसे, तीन हुए इनमें सानुगोची और असानुगोचीका भाग दिया एक लब्ध भाग और एक ही बाकी बचा पुनः पूर्वोक्त नियमके अनुसार पढ़ना सानुगोची समझना चाहिए, फिर लब्ध एकमें एक रूप जोड़नेसे दो हुए, इनमें यत्नसेवी और अयत्नसेवीका भाग दिया लब्ध एक भाग और बाकी कुछ नहीं बचा 'शुद्धे सति अनोऽन्ने तिष्ठति' इस नियमके अनुसार अन्नका अयन्नसेवी ग्रहण किया। इस तरह नववी उधारणमें आगादकारणक, सहकारि, सानुगोची अयत्नसेवी नामका अन्न भाग। इसी तरह अन्य उधारणोंके अन्न भी निकाल देने चाहिए।

भाग उद्दिष्ट विधि कही जाती है—

संठाविऊण रूपं उवारेओ संगुणित्तु सयमाणे ।
अवाणेज्ज अणंकिदयं कुज्जा पट्ठभंतिमं रेव ॥

अर्थ—एक रूप रखकर उसको घेरने ऊपरके मन्त्रसे गुणा करें और अनंकिजको पश्चिम इस तरह घेर पर्यन्त करें।

भावार्थ—यहाँ जो भेद प्राण हो उसके भागोंके स्थानों की जो संख्या हो वह अनंकिज है। इसे आगाद और अनागादमें

से यदि आगादका ग्रहण हो तो उसमें आंगराने अनंकित सपम्पना । इसीतरह सकृत्कारी—सानुवीची—अमानुवीची और यत्नमेरी अपयत्नमेरी सपम्पना । किसीने पूछा कि आगादकारणकृत्कारी, सानुवीची अपयत्नमेरी यह कौनसी है तब प्रथम एक रूप रखिये उसको ऊपरके और अपयत्नसेवीका प्रमाण दोसे गुणिये, दो हुए, कित्तको घटाइये, यहां अनंकित कोशिनहीं दोनों हैं अतः दो ही रहे । फिर इन दो को सानुवीची और का प्रमाण दो स गुणिये, चार हुए, यहां अमानुवीची है अतः चारमेंसे एक घटाइये तब तीन रहे । इन सकृत्कारी और असकृत्कारीका प्रमाण दोसे गुणिये, छह अनंकित असकृत्कारीको घटाइये पांच रहे, पुनः पांचको अनागादकी संगत्या दोसे गुणिये, दश हुए अनंकितको घटाजिये, नौ रहे । इस तरह आगादकारणकृत् सकृत्कारी सानुवीची अपयत्नसेवी नानकी नौवी उच्चारणा सिद्ध होती है यही विधि अन्य उच्चारणोंके निकालनेमें करनी चाहिए ॥१॥

विशुद्धः प्रथमोऽन्त्योऽपि सर्वथा शुद्धिवर्जितः
भंगाश्चतुर्दशान्ये तु सर्वे भाज्या भवन्त्यमी ॥२॥

अर्थ—इन सोत्तह भंगोंमेंसे पहला भंग विशुद्ध है—सर्वथाशुद्धके योग्य है । अन्तका सोत्तहवां भंग विलकुल अशुद्ध

—गुरु प्राप्यधिकके योग्य है । बाकीके चौदह मंग माज्य हैं—
 पु-गुरु दोनों तरफके हैं अतः छोटे बड़े प्राप्यधिकके योग्य हैं ॥

भागादकारणे कश्चिज्जेषाशुद्धोऽपि शुद्ध्यति ।
 वेशुद्धोऽपि पदेः शेषैरनागाढे न शुद्ध्यति ॥२१॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यज्य या अचेतनरूप उपसर्ग पर
 या व्याधिवश दोष सेवन कर सेने पर, शेष असहकारी,
 असानुवीची और अयत्रसेवी पदों पर अशुद्ध होने हुए
 भी, कोई पुरुष शुद्ध हो जाता है अर्थात् वह उस दोषयोग्य
 मनु प्राप्यधिकका प्राप्त है । तथा कोई पुरुष बिना कारण दोष
 सेवन कर सेने पर शेष सहकारी, सानुवीची और अयत्रसेवी
 पदोंसे शुद्ध होने हुए भी शुद्ध नहीं होता—मनु प्राप्यधिकका
 प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

अथ आठ अनिमित्त भंगोंको कहते हैं—

अकारणे सकृत्कारी सानुवीचिः प्रयत्नवान् ।
 तद्विपक्षा द्विका एतेऽप्यष्टावन्योन्यमंगुणाः ॥२२॥

अर्थ—अकारणभंगोंमें सकृत्कारी, सानुवीचि और प्रयत्न-
 वान् इन तीनोंही मनु संज्ञा हैं और इनके विपक्षों असहकारी,
 असानुवीची और अयत्नप्रवृत्तिसेवीही द्विक अर्थात् गुरु संज्ञा
 हैं । ये भी परस्पर गुणा करने पर आठ होते हैं । संतुष्टि
 १ : १ = ८ ॥

अतुल्यसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट भी पढ़नेकी तरह निकाल लेना चाहिए । इस तरह इन भांड भंगोंकी संख्या, प्रसार, अतुल्यपरि-
तिन, नष्ट और उद्दिष्ट जानना । पूर्वोक्त निमित्त दोष सोचने
के भांड ये अनिष्ट दोष कुल बिनाकर चौबीस दोष होने
॥ २२ ॥

अष्टाप्येते न संशुद्धा आद्यः शुद्धतरस्ततः ।
अविशुद्धतरास्त्वन्ये भंगाः सप्तापि सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—ये ऊपर बताये हुए भांडों भंग संशुद्ध नहीं हैं अशुद्ध
—बहुत प्रायश्चित्तके योग्य हैं इनमेंका पहला भंग द्वितीय
रंगकी अपेक्षा शुद्ध है—अष्ट प्रायश्चित्तके योग्य हैं । इसके
प्रस्तावा बाकीके सातों भंग निर्वन्तर अविशुद्धतर हैं—बहुत
प्रायश्चित्तके योग्य हैं ॥ २३ ॥

प्रतिसेवाविकल्पानां त्रयोविंशतिमामृषन् ।
गुरुं लाघवमालोच्य च्छेदं दद्याद्यथायथं ॥२४॥

अर्थ—प्रतिसेवाके कुल विकल्प चौबीस हुए । उनमें से
(भागादकारणहृत् सङ्कलितो, सानुशीलो, मयत्नप्रतिपेक्षी)
रहने विकल्पको छोड़कर अवशिष्ट नौवें विकल्पोंमें छोटे और
बड़ेका विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४ ॥

द्रव्ये क्षेत्रेऽथ काले वा भावे विज्ञाय सेवनां ।
क्रमशः सम्यगालोच्य यथाप्राप्तं प्रयोजयेत् ॥२५॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको जानकर

५ । पुरुषंदल और एकस्थान यह छठा भंग ६ । पुरुषंदल और क्षमण यह सातवां भंग ७ । आचाम्ल और एकस्थान यह आठवां भंग ८ । आचाम्ल और क्षमण यह नौवां भंग ९ । एक स्थान और क्षमण यह दशवां भंग १० । ये दश द्विसंयोगी भंग हुए । अब त्रिसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति पुरुषंदल और आचाम्ल यह प्रथम भंग १ । निर्विकृति, पुरुषंदल और एकस्थान यह द्वितीय भंग २ । निर्विकृति, पुरुषंदल और क्षमण यह तृतीय भंग ३ । निर्विकृति, आचाम्ल और एकस्थान यह चतुर्थ भंग ४ । निर्विकृति, आचाम्ल और क्षमण यह पंचम भंग ५ । निर्विकृति एकस्थान और क्षमण यह छठा भंग ६ । पुरुषंदल, आचाम्ल और एकस्थान यह सप्तम भंग ७ । पुरुषंदल, आचाम्ल और क्षमण यह आठवां भंग ८ । पुरुषंदल एकस्थान और क्षमण यह नौवां भंग ९ । आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह दशवां भंग १० । ये दश त्रिसंयोगी भंग हुए । अब चतुसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति, पुरुषंदल, आचाम्ल और एकस्थान यह प्रथम भंग १ । निर्विकृति, पुरुषंदल, आचाम्ल और क्षमण यह द्वितीय भंग २ । निर्विकृति, पुरुषंदल, एकस्थान और क्षमण यह तृतीय भंग ३ । निर्विकृति, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह चतुर्थ भंग ४ । पुरुषंदल, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण यह पंचम भंग ५ । ये चार चतुसंयोगी भंग हुए । अब पंचसंयोगी भंग बताते हैं—निर्विकृति

मंडल, आचामल एकस्थान और क्षमण यह पांचोंका मिलकर एक भंग । पांच प्रत्येक भंग, दश द्विसंयोगी भंग, दश त्रिसंयोगी भंग, पांच चतुःसंयोगी भंग और एक पंच संयोगी भंग, कुल मिलकर $5 + 10 + 10 + 5 + 1 = 31$ इकत्तीस भंग हुए । इनको शलाका भी कहते हैं । पहले जो सोलह दोष कह आये हैं उनमें इन इकत्तीस शलाकाओंका विभाग कर प्रायश्चित्त देना चाहिए । प्रथम दोषका पहली शलाकाका प्रायश्चित्त और शेषद्विदश दोषोंका प्रत्येक और मिश्र ऐसी दो दो शलाकाओंका प्रायश्चित्त देना चाहिए । इन निर्विकृति आदि इकत्तीस शलाका रूप प्रायश्चित्तोंको यह प्रस्तार संदष्ट है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५

1 2 2 4 4 4 4 4 5 5 5 5 5 5 5 5 5

इस संहतिमें ऊपर शलाकाओंकी संख्या है और नीचे उन शलाकाओंके अन्तर्गत प्रायश्चित्तोंकी संख्या है। यद्यपि प्रथम दोषको छोड़कर शेष पंद्रह दोषोंकी शलाकाएं समान दो दो हैं तथापि उनके प्रायश्चित्तोंकी संख्या समान नहीं है। दूसरे तीसरे दोषकी शलाकाएं दो दो हैं और प्रायश्चित्त भी दो हैं। चौथेसे आठवां तक शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त चार चार, नौसे तेरहवें तक शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त छह छह, चौदहवें पंद्रहवेंमें शलाकाएं दो दो और प्रायश्चित्त आठ आठ तथा सोलहवेंमें शलाका दो और

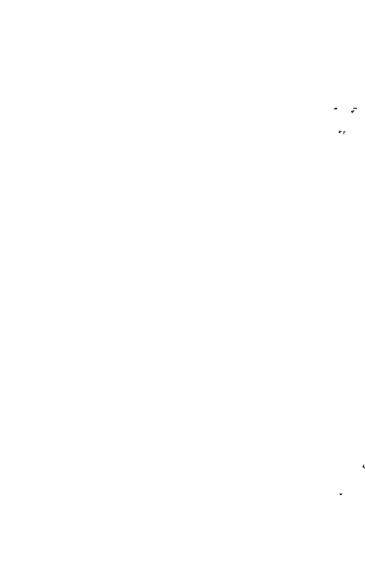
मायधित्त नाँ है । शलाकाओंका विभाग करनेवाला यहाँ एक संग्रह श्लोक है उसे कहते हैं ।

आद्यमाद्ये तपोऽन्येषु प्रत्येकं तद्द्वयं ततः ।

आद्ये तत्त्रयमष्टानां तच्चतुष्टयमन्यतः ॥

अर्थ—सोलह दोषोंमेंसे प्रथम दोषका मायधित्त आद्य तप अर्थात् प्रथम शलाका है । शेष पंद्रह दोषोंका मायधित्त दो दो तप—दो दो शलाकाएँ हैं । तथा आठ दोषोंमेंसे प्रथम दोषका मायधित्त तीन तप—तीन शलाकाएँ और शेष सात दोषोंका मायधित्त चार चार तप—चार चार शलाकाएँ हैं ।

आगाददि सोलह दोषोंका मायधित्त सामान्यमें कहा गया अब सषु दोष और गुरु दोषका विचार कर आचार्योंके उपदेशके अनुसार उत्तर सूत्रके अभिप्रायसे उक्त शलाकाओंमें किसको कौनसा मायधित्त दिया जाता है यह निश्चय करते हैं । आगादकारणहृत्, संहृत्कारी, सानुवीची, मपलसंसेवी प्रथम दोषका मायधित्त आपोचनापात्र है । अनागादकारणहृत्, संहृत्कारी, सानुवीची, मपलसंसेवी द्वितीय दोषका वहा मायधित्त—छह शुद्धिवापी दो शलाकाएँ हैं जिनमें एक शलाका तो निरिहृति और क्षमण नापरी नाँवी द्वित्योगकी और दूसरी निरिहृति, पुरमंडन, आचाम्ना और एरुस्थान नापरी तन्वीसरी अनुसंधागरी है । इस तरह दोनों शलाकाओंके छह मायधित्त द्वितीय दोषका है । आगादकारणहृत्, ...



नुवीची अपत्यसंसेवी आठवे' दोपका मायश्चित्त चारहवीं और
अठारहवीं शताका है । पारहवीं शताका पुरुषंदत्त और
चमण ऐसे द्विसंयोगी भंगकी और अठारहवीं शताका निर्वि-
कृति, पुरुषंदत्त एकस्थान और चमण ऐसे चतुःसंयोगी भंगकी
है । आगादकारणकृत, सकृत्कारी, सानुबोचो, अपत्यसंसेवी
नीचे' दोपका मायश्चित्त तीसरी और चौथी शताका है । ये
दोनों शताकाएं आचाम्न और एकस्थान ऐसे एक एक संयोगी
भंगकी हैं । अनागादकारणकृत, सकृत्कारी, सानुबोचो,
अपत्यसंसेवी दशवे' दोपका मायश्चित्त तेवीसवीं और इक्कोसवीं
त्रिसंयोगी शताकाएं हैं । तेवीसवीं शताका पुरुषंदत्त
आचाम्न और चमणकी और इक्कोसवीं शताका निर्विकृति एक-
स्थान और चमणका है आगादकारणकृत, असकृत्कारी, सानु-
बोचो, अपत्यसंसेवी ग्यारहवे' दोपका मायश्चित्त आठवीं और
ग्यारहवीं द्विसंयोगी शताकाएं हैं । आठवीं शताका निर्विकृति
और एकस्थान और ग्यारहवीं शताका पुरुषंदत्त और एक-
स्थानका है । अनागादकारणकृत असकृत्कारी, सानुबोचो,
अपत्यसेवी पारहवे' दोपका मायश्चित्त अठारहवीं और बीसवीं

१—सोजन वादीसौरमा, वादस अठवीसिमा, तिथ अठवी । २

अठवीसिमा पद्यवाससा, अहुमि पद्यारसी सेव ॥

यही पांडा आचार्यसंश्रयाका भेद है । यह वह कि दशवे'
दोपके ऊपर एहीतधी जोर तेरेसवीं शताका बताई गई है जोर
एत पादार्थे चौबीसवीं और पचीसवीं ।

आचाम्न और एकस्थानकी है । अनागादकारणहृत्, असकृ-
कत्कारी, असानुचीचो और अयत्नसेरो सोलहवें दोपका
मायश्चित्त पांचवीं, उनतीसवीं और इकतीसवीं ये तीन शला-
काएँ हैं । पांचवीं शलाका एकसंयोगी भंगकी है जिसमें
क्षमण है । उनतीसवीं निर्विहृति, आचाम्न, एकस्थान और
क्षमण एवं चतुःसंयोगी भंगकी है और इकतीसवीं शलाका
निर्विहृति, परुषंडल, आचाम्न, एकस्थान और क्षमण एवं
पंचसंयोगी भंगकी है । इस तरह सोलह दोपोंमें छोटे बड़े
दोपका विचार कर मायश्चित्त बताया । पहला, तीसरा, पांचवां,
सातवां, नौवां, ग्यारहवां, तेरहवां और पन्द्रहवां ये आठ दोप तो
सबु मायश्चित्तके योग्य हैं और दसरा, चौथा, छठा, आठवां,
दशवां, बारहवां, चौदहवां और सोलहवां ये आठ गुरु मायश्चित्त
के योग्य हैं । संदष्टि—

१ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ ३ २ २ २ ३

• ६ २ ६ ४ ६ ६ ६ २ ६ ४ ६ ४ ६ ६ १०

इस संदष्टिमें ऊपर मत्पेक दोपकी शलाकाएँ हैं और नीचे
मायश्चित्तोंकी संख्या है । यह इस विषयको स्पष्ट करनेवाला
संग्रह श्लोक है—

१—पंचम इगतीसरिमा इगधीसदिमा य होति सो अस्ते ।

मिहमसह्याणा नेपहः १गिदुनिघइपंयस्तंक्रोने ।

आद्ये बालोचनान्येषु द्वे द्वे स्यातां शलाकिके ।

आद्यं मुक्त्वा यथायोग्यं प्राग्यदुद्दिष्टमष्टसु ॥

अर्थ—प्रथमदोषमें आलोचना प्रायश्चित्त है दो दो शलाकाएं हैं विशेष इतना है कि सोत्तद्वे दोषमें शलाकाएं हैं । तथा आठ दोषोंमें पहले दोषको शेष दोषोंमें पूर्ववत् प्रायश्चित्त समझना । भावार्थ—पहले में तीन शलाकाएं और शेष सात दोषोंमें चार रूप प्रायश्चित्त है ।

जो निष्कारण आठ भंग हैं वे सर्वथा ही अशुद्ध हैं तो उनमेंका पहला भंग अन्य भंगोंकी अपेक्षा विरुद्धतम है । अन्न का अविशुद्धतम अर्थात् सबसे अधिक अविशुद्ध है । सकृत्कारी सानुवीची, यत्नसेवी प्रथम भंगका प्रायश्चित्त एक संयोगवाली निर्विकृति, पुरुषंदल और आचाम्न ऐसे पहले दूसरे तीसरे तीन शलाकाएं हैं । असकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसेवी दूसरे दोषका प्रायश्चित्त चार शलाकाएं हैं । दो शलाकाएं एकस्थान और क्षमण ऐसे एकसंयोगकी और दो शलाकाएं निर्विकृति पुरुषंदल और आचाम्न एकस्थान ऐसे द्विसंयोगकी । ये शलाकाएं चौथी, पांचवी, छठी और तेरहवीं हैं । सकृत्कारी

१—अट्टण्डं आदियणे मित्तं सलागाड तिण्णि दायणा ।
सेसाणं वसारिय पुध पुध ताणं सुणसु ठायं ॥

रसानुवीची यत्नप्रतिषेधी तृतीय दोषका मायक्षिप्त द्विसंयोगकी
चार शुभाकार्ण अर्थात् भाठ शुद्धियां हैं । निर्विकृति-आचाम्म
निर्विकृति एकस्थान, आचाम्म क्षयण और एकस्थान क्षयण ।
ये शुभाकार्ण क्रमसे सातवीं, भाठवीं, चोदहवीं और पंद्रहवीं हैं ।
असहृत्कारो, असानुवीची अयत्नसंसेवी चांय दोषका मायक्षिप्त
द्विसंयोगवान्नी चार शुभाकार्ण अर्थात् भाठ शुद्धियां हैं निर्वि-
कृति क्षयण, पुरुषंदन आचाम्म, पुरुषंदन एकस्थान और
पुरुषंदन क्षयण । ये शुभाकार्ण क्रमसे नौवीं, दशवीं, ग्यारहवीं
और पारहवीं हैं । सकृत्कारो, सानुवीची, अयत्नसेवी पांचवें
दोषका मायक्षिप्त तीन संयोगवान्नी चार शुभाकार्ण अर्थात्
पारह शुद्धियां हैं । निर्विकृति पुरुषंदन आचाम्म, निर्विकृति
पुरुषंदन क्षयण, पुरुषंदन आचाम्म क्षयण और आचाम्म
एकस्थान क्षयण । ये शुभाकार्ण क्रमसे सोलहवीं अठारहवीं, तेह-
सरीं और पचोत्तरीं हैं । असकृत्कारी, सानुवीची, अयत्नसेवी
छठे दोषका मायक्षिप्त तीन संयोगवान्नी चार शुभाकार्ण
अर्थात् पारह शुद्धियां हैं । निर्विकृति पुरुषंदन एकस्थान,

१ पदम दुरास तच्छा, अथ पचमिषा य छद् तेरसमी ।

तत्तम अहम खोदसमी दि य पयणारसी खेव ॥

२ दधदग एवकारसमी य बारसमी, तह य खेव, सोदसमी ।

अध्वारसमी पाबोमिमा य पदकीरिमा, खेव ॥

पांचवें दोषमें ऊपर तेरहवीं आठवा बडाई गई है और
इस गायामें बारहवीं ।

निर्विकृति आचाम्न एकस्थान, निर्विकृति आचाम्न क्षमण, १
 पुरुषमंडल एकस्थान क्षमण । ये शलाकाएं क्रमसे सप्तविंशति
 उन्नीसवीं बीसवीं आर चाबीसवीं हैं । सकृत्कारी असानुवी
 अपत्यप्रतिसेवी सातवें दोपका प्रायश्चित्त १०१
 दो और चतुःसंयोगवाली दो अर्थात् चोदह शुद्धियां
 त्रार शलाकाएं हैं । निर्विकृति-एकस्थान-क्षमण और पुरुषमंडल
 आचाम्न एकस्थान, तथा निर्विकृति पुरुषमंडल आचाम्न
 एकस्थान और पुरुषमंडल आचाम्न एकस्थान क्षमण ।
 शलाकाएं क्रमसे इक्कीसवीं, बारहवीं, छत्तीसवीं १०२
 हैं । असकृत्कारी, असानुवीची अपत्यप्रतिसेवी
 दोपका प्रायश्चित्त चतुःसंयोगवाली शलाकाएं तीन
 पांचसंयोगवाली शलाका एक एवं चार शलाकाएं
 सतरह शुद्धियां हैं, निर्विकृति पुरुषमंडल आचाम्न क्षमण
 निर्विकृति पुरुषमंडल एकस्थान क्षमण, १०३ निर्विकृति
 एकस्थान क्षमण तथा निर्विकृति पुरुषमंडल आचाम्न
 क्षमण । ये शलाकाएं क्रमसे सत्तारहवीं, अठारहवीं, उनतीसवीं

१ सत्तारहसमी पण्यवीसमा वाचनमा य चउवांसमा ।

इगिबीसदिमा तथासदिमा य छत्तीस तीसदिमा ।

सातवें दोपमें ऊपर बारहवीं शलाका बताई गई है और
 इस गायामें तेईसवीं ।

२ सत्ताबीसदिमावि य अट्ठावीसाय ऊणतीसदिमा ।

इगतीसदिमा य इमा मित्तसत्तायाद अट्ठण्णं ।

नीं और इकतीसवीं हैं । इस तरह आठदोषोंकी कुल गनाकारण
कतीस और शुद्धियां अस्सी होती हैं । संदृष्टि—

३ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४

३ ६ ८ ८ १२ १२ १४ १७

यहां भी ऊपर गनाकारणोंकी संख्या और नीचे शुद्धियों
की संख्या है ॥ २६ ॥

आलोचनादिकं योग्ये कायोत्सर्गोऽथ सर्वकं ।

तपः आदि कचिद्देयं यथा वक्ष्ये विधिं तथा ॥

अर्थ—योग्य-व्यक्तिके दोषोंका जानकर आलोचना,
आदि शब्दसे प्रतिक्षण, तदुभय, विवेक इनमेंसे एक या दो
या तीन अथवा चारों मायस्थित देवें और कायोत्सर्ग भी देवे ।
अथवा सभी आलोचनादि दश तरहके मायस्थित देवे । तथा
किसी व्यक्ति विशेषको तप, आदि शब्दमें छेद मूल, परिहार
और श्रद्धा ये पांच मायस्थित देवें ॥ २७ ॥

ये सब मायस्थित नित विधिते देने चाहिए, इसविधिको
भाग कहने

यदभीक्षणं निषेव्येत परिहर्तुं न याति यत् ।

यदीपञ्च भवेत्तत्र कायोत्सर्गो विशोधनं ॥ २८ ॥

अर्थ—जो निरंतर सेवन करनेमें आने है, जो रक्षणमें
में नहीं आने है और जो स्तोक है ऐसे दोषोंका मायस्थित काया-
त्सर्ग है । भाषार्थ—चमना-फिरना आदि भी दोष हैं जो निर-

तर करने पड़ते हैं । भोजन पान करना भी दोष ही है । ये दुस्त्याज्य है । सारांश—इन कर्तव्योंके करने पर नामका प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥ २८ ॥

अपमृष्टपरामर्शं कंठृत्याकुंचनादिषु ।

जलखेलादिकोत्सर्गं कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ।

अर्थ—अप्रतिज्ञेखित शरीरादि वस्तुओंसे स्पर्श हो पर, खान खुजाने हाथ पैर आदिके फेंकाने सिरोङ्गने क्रियाके करने पर, और मल, थूक, आदि शब्दसे स्पर्श शारीरिक मल आदिके त्यागने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त गया है ॥ २९ ॥

तंतुच्छेदादिकं स्तोके संक्लिष्टे हस्तकर्मणि ।

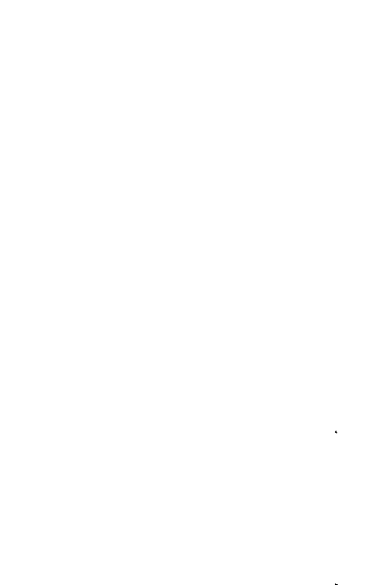
मनोमासिकसेवायां कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—तंतु (धागा) तोड़नेका, आदिशब्दसे तृण वगैरे तोड़नेका, मलप संकेश उत्पन्न करनेका, पुस्तक आदिके करनेका हस्तकर्मका और इस उपकरणको इतने दिनों बनाकर तयार करूंगा इस प्रकार मनसे चिंतन करने प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग है ॥ ३० ॥

मृदाथवा स्थिरेर्वीजैर्हरिद्विस्त्रसकायकैः ।

संघट्टने विपश्चिद्धिः कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः ।

अर्थ—मिट्टीसे, स्थिरबीजोंसे और हर तृण आदिसे



आगाढकारणाद्वन्निहर्निर्वात्यानीयमानकः ।

पंच स्युर्नीरसाहाराः कल्याणं वा प्रमादिनि ॥४२॥

अर्थ—अपियोको यदि उपसर्ग हो या रोग आदि हो इस हेतुमे साई हुई अग्नि पुष्पा दे ता उसका मायाधिका पाँच नीरस आहार (निर्विकृतियां) अथवा प्रमादवान् पुष्पके निष् एक कल्याणक मायाधित है ॥ ४२ ॥

ग्लानार्थं तापयन् द्रव्यं बन्धिज्वालां यदि स्पृशेत् ।

पंच स्यू रुक्षभक्तानि कल्याणं च मुहुर्मुहुः ॥४३॥

अर्थ—बोघार पुष्पके निमित्त उसका शरीर या ओर कोई उपकरण तथात रूप यदि एक बार अग्निसी ज्ञाना (सी)-का स्पर्शन करे ता उसको श्रुति पंच निर्विकृत आहार है और यदि बार बार स्पर्शन कर ता उसका मायाधिका एककल्याणक है ॥

विभावसोः समारंभं वेद्यादेयाद्यदि स्वयं ।

अनापृच्छचातुरं कुर्यात्पंचकल्याणमश्नुते ॥४४॥

अर्थ—यदि बोघारगे न पृच्छार केचन रूपके करनेसे स्वयं अपने आप अग्नि ज्ञानानेका आरम्भ करे ता वह पंच-कल्याणकको प्राप्त होता है । भावार्थ—इस तरहके आरम्भका मायाधिका पंचकल्याण है ॥ ४४ ॥

विदध्याद् ग्लानमापृच्छ्य वैयावृत्यकरोऽथवा ।
तस्य स्यादेककल्याणं पंचकल्याणमातुरे ॥ ४५ ॥

अर्थ—अथवा वह वैयावृत्य करनेवाला रोगीको
अग्नि जलावे तो उसके लिए एककल्याणक और उस रोगी
लिए पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ४५ ॥

कारणादामलादीनि सेवमानो न दुष्यति ।

विल्वपेक्ष्यादि चाश्नाति शुद्धः कल्याणभाग्य ॥ ४६ ॥
अर्थ—व्याधिके निमित्त आपने, हरड़ा, बड़ेरड़ा, आदि
चौजोंका सेवन करनेवाला दोषी नहीं है—निर्दोष है और
विल्वपेक्ष, आप, करौंदे, चौजपूर (विजौरा) आदि प्रायिक
चौजोंका जो खाना है वह भी निर्दोष है परन्तु जो व्याधिरहित
होने हुए यदि सेवन करता है तो कल्याणकप्रायश्चित्तका भागी
है ॥ ४६ ॥

रसधान्यपुलकं वा पलांडूसुरणादिकं ।

कल्याणमश्नुतेऽश्नन्वा मासं कर्कोलकादिकं ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो पुष्प व्याधिरहित होता हुआ यथानाम
(मामानुसार) सेवन करने हुए भी निक्त, कटुक, कषाय,
आम्ल, मधु, कषण इन छह रसोंक और शक्ती, घ्रीही अर्थात्
आदिका परिमाणमें अधिक सेवन करता है अथवा, मधुन
... कंद, गिणोय आदि अनंतकाय चौजोंका सेवन करता है

यह चकल्याणकको प्राप्त होता है । तथा व्याधिरहित नीरोग होकर इनायची, लींग, आतिफल, जानीपत्र, गुपारी आदिका सेवन करना है यह पंचकल्याणकको प्राप्त होता है । भाषार्थ—अणु अवस्थामें अत्यन्त लान्घताके साथ छोटे तरङ्कके रस और आधार तथा लघुन आदि अनंतकाय चीजोंके सेवन करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है । तथा नीरोग हाजतमें इनायची, गुपारी आदि चीजोंके गालनेका प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है ॥

कान्दर्प्यं यन्मृपावादे मिथ्याकारेण शुद्ध्यति ।

अननुज्ञातमंशून्यम्वलादिकमलोज्ज्वलेन ॥ ४९ ॥

अर्थ—कापर्क। उन्मत्तताके कारण थोड़ा असत्य बोलने पर 'येग दुष्कृत्य मिथ्या हो' इस तरहके वचनमात्रसे शुद्ध निर्दोष हो जाता है । तथा आगममें निषिद्ध और निर्जन ऐसे खनियान, खेत, तालाब, वृक्षांको जड़ आदि स्थान जहाँ मनान्तर्ग करनेसे लाक नाराज होते हैं वहाँ मनोत्सर्ग करने पर भी मिथ्याका वचनमें शुद्ध हो जाता है ॥ ४९ ॥

जघन्यं तुल्यमूल्येन गृह्णानोऽपि विशुद्ध्यति ।

उत्कृष्टं मध्यमं वाथ गृह्णतो नासिकं भवेत् ॥ ५० ॥

अर्थ—जघन्य, अथवा मध्यम, अथवा उत्कृष्ट चीजोंको जो समान मूल्यमें खरीदता है वह बिना प्रायश्चित्तके शुद्धिको प्राप्त होता है । और यदि चौर डाकू आदिसं सेता है तो प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है । भाषार्थ—यह मुनियोंने

भिन्नहा प्रत्य है अतः यहाँ उन्हीं गीतों का मंत्र ५००
 पादिये निम्नहा मुनि प्रभोगे कृष्ण मंत्र है । यहाँ दाह
 कर्म, नैजना आदि निम्नहा गीतें नमन्य हैं । ५००
 पट्टी, कमंडलु आदि प. ५०० गीतें ४ । विद्वान्-गुप्त ५००
 उच्छृष्ट गीतें हैं । येमो नमन्य गीतें नमन्यमूल्यमें, प. ५००
 मूल्यमें और उच्छृष्ट उच्छृष्ट मूल्यमें अगस्त उच्छृष्ट और ५००
 गीतें नमन्यमूल्यमें और नमन्य गीतें कम मूल्यमें गीतें
 वहाँ तक विष्ट है । हा ! यदि चार दाह आदिम ये गीतें
 तो वह अवश्य दोषी है अतः इस दोषमें उन्मुक्त होनेका क
 दिवत्त पंचकल्याणक है ॥ ५० ॥

तृणपंचकमेवायां स्यान्निर्विकृतिपंचकं ।

दृष्याजिनामनानां च कल्याणं पंचकं सकृत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—शाली, मोठी काँदर, कणु और रवक इनको तृण-
 पंचक कहते हैं इनके सेवन करनेका प्रायश्चित्त पांच निर्विकृति
 आहार है । तथा वस्त्र पंचक, चर्मपंचक और आसन पंचक
 एकवार उपभोग करनेका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है । दृष्य,
 भवार, चुरपट, लौप और वस्त्र ये पांच अथवा अगडन, बौद्ध-
 बालन, बलकन, और गृह्यन ये पांच पंचक होते हैं । व्याज-
 चर्म, भल्लुकचर्म, हरिणचर्म, मेघचर्म और अजाचर्म ये पांच
 , या चर्म पंचक है । तथा लोहासन, दंडासन, मामंदक
 , और पोतक ये पांच आसनपंचक हैं ॥ ५१ ॥

पंचकेऽप्रतिलेख्यस्य मासः स्यात् सेवने सकृत् ।

संदंशच्छेदसून्यादिधारणे शुद्ध एव हि ॥ ५२ ॥

अर्थ—पांच प्रकारके अप्रतिलेख्यकिं एक बार सेवन करने का प्रायश्चित्त पंचकल्याणक है । जो शोधनेमें न पावे उसे अप्रतिलेख्य कहते हैं । उसकी संख्या पांच है । तथा संदंश (संदसी) नखतु, गूई, आदि गन्दसे पत्रवेधनी सनाई आदि चीजें पात रखने पर शुद्ध हो है अर्थात् इनके ग्रहण करनेका कोई प्रायश्चित्त नहीं ॥ ५२ ॥

संस्तरस्य निषद्यायास्तदिकाया उपासने ।

घटीसंपुटपट्टस्य फलकस्य न दृषिका ॥ ५३ ॥

अर्थ—सांयरा, बैठनेकी चटाई, कर्मदल, संपुट (कटोर पा दोनेके आकारकी वस्तु) आसन और फलक (लकड़ीकी फड़ पर रखत) इन चीजोंको काममें लेनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ५३ ॥

उपथो विस्मृतेऽप्युन्मेष्यमेऽथ जघन्यके ।

क्षमणं कंजिकाहारं पुरुमंडलमेव च ॥ ५४ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संयमोपकरणके विस्मृत करनेका प्रायश्चित्त क्रमसे उपवास, आचाम्य और पुरुषंडन है ॥

दुःस्थापितोपधेर्नाशे सर्वत्रोत्कृष्टमध्यमे ।

जघन्ये मासिकं षष्ठं चतुर्थं कंजिकाशनं ॥ ५५ ॥

अर्थ—अच्छी तरह नहीं रक्खा गया मतएव नष्ट हो



रक्षभक्तं विजीवेऽपि सजीवे पुरुमंडलं ।

आभीक्ष्ण्ये च निघृत्ते च घ्राते पंचकमुच्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—निर्जीव वस्तुको मृंघनेका मायश्चित्त निर्विकृति,
जिवित्तको मृंघनेका पुरुमंडल, और शर शर मृंघनेका और
प्राण की हुई वस्तुको मृंघनेका मायश्चित्त कल्पाणक है ॥ ७२ ॥

सेवमाने रसान् मृद्भ्या पंचकं वा न दोषता ।

क्षीतिवातातपानेवं सेवमानो विशुद्ध्यति ॥ ७३ ॥

अर्थ—रूप, दहि, गुड़ आदि छह तरहके रसोंको भोजुपना
पूर्वक सेवन करनेका मायश्चित्त कल्पाणक है । यदि ये रस
यथाज्ञान प्राप्त हों तो उनके सेवनमें कोई दोष नहीं है—अर्थात्
उसका कुछ भी मायश्चित्त नहीं है । तथा अनासक्तिपूर्वक हवा,
गर्मी और शीतको सेवन करने वाला भी शुद्ध है—मायश्चित्तका
भागी नहीं है ॥ ७३ ॥

प्रावारसंस्तरासेवे संवाहे परिमर्दने ।

सर्वांगमर्दने चेवाहेतोः पंचकमंचति ॥ ७४ ॥

अर्थ—ज्याधि आदि कारणोंके बिना, संप्रयोगी जनके
अयोग्य और छहस्थोंके योग्य वस्त्र ओढ़ने, छप्पा पर सोने,
थपथपी सगवाने, हाथ पैर दबवाने और नैन घातित करने पर
कल्पाणक मायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

शयालुर्दिवसे शेते चेत्कल्याणं समश्नुते ।
अतोऽन्यस्य भवेद्देयो भिन्नमासो विशुद्धये ॥७८॥

अर्थ—जिसका सोनेका स्वभाव पड़ा हुआ है वह यदि दिन-में सो जाय तो कल्याणको प्राप्त होता है अर्थात् उसे कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए । और जिसका स्वभाव सोनेका नहीं है वह यदि दिनमें सो जाय तो उसको उसकी शुद्धिके लिए मित्रपास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ७८ ॥

हस्तकर्मणि मासाहं गुरो लघुनि पंचकं ।
शुद्धश्च पंचकं मासश्चतुर्मास्यां लघौ गुरो ॥७९॥

अर्थ—एक महीने भरमें बनाकर तयार करनेयोग्य पुस्तक कर्मद्वलु आदि चीजोंको निरंतर बनाता रहे अथवा अमासुक द्रव्यसे बनावे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि नशु अर्थात् स्वाध्याय-व्याख्यानका न छोड़ कर अवकाशके समयमें मासुक वस्तुमें तयार करे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है । तथा यदि चार महीनेमें हस्तकर्म अर्थात् पुस्तक कर्मद्वलु आदि यथा-वसर मासुक द्रव्यमें तयार करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त है और यदि गुरु अर्थात् स्वाध्याय छोड़कर निरंतर अमासुक द्रव्यमें तयार करे तो पंचकल्याणक प्रायश्चित्त है ॥ ७९ ॥

पार्श्वस्थानुचरे बाह्यश्रुतिशिक्षणकारणान् ।
करणीकाव्यशिक्षाये मिथ्याकारेऽथ पंचकं ॥८०॥

अर्थ—न्याय, व्याकरण, छंद, अस्तर, कोष आदि,

कर भाहार ग्रहण करे तो एककल्याणक मायश्चित्तका भागी होता है ॥ ८२ ॥

शब्दाद्वयानकाद्रूपादुत्त्रस्येदंगमाक्षिपेत् ।

मिथ्याकारः स्वनिंदा वा पंचकं वा पलायने ॥ ९३ ॥

अर्थ—भयानक शब्द गुनकर या भावति देखकर बचने लग जाय और शरीर गिर पड़े तो उसका क्रयसे मिथ्याकार और आत्मनिंदा मायश्चित्त है । तथा दूरके पारे भग जाय तो कल्याणक है । भावार्थ—भयानक शब्द गुनकर और भावति देख कर शरीर कपकपाने लग जाय तो 'विषया मे दुष्कृतं' बेरा दुष्कृत विषया हो यह विध्याकार बनन उस दोषकी शुद्धिका मायश्चित्त है । और यदि उक्त कारणोंकर शरीर गिर पड़े तो उसकी शुद्धिका उपाय अपनी निंदा कर लेना है । तथा उक्त कारणोंको पाकर भग जाय तो उसका एक कल्याणक मायश्चित्त है । यहां पर दोनां वा शब्द विकल्पार्थक है जो कबिद्वयस्याविशेषम ध्येयभारको सूचन करते हैं अर्थात् व्याधि आदिकें कर उक्त दोष लग जाय तो मायश्चित्त नहीं भी है ॥ ८३ ॥

कराद्याकुंचने स्पर्धादायामे पुरुमंडलं ।

उत्क्षेपे पंचकं मासः पापाणस्य लघोर्गुरोः ॥ ९४ ॥

अर्थ—संघर्षणकर हाथ पर आदिका गिकोड़ सेने और पसार देनेका मायश्चित्त पुण्यदत्त है । तथा छोटे पत्थर

प्रक्षालन करे तो उपवास और उष्यन, तैलमें मानिस आदि करे तो कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए । यद्यपि 'च' शब्द न कही हुई बातका समुच्चय करता है, इससे यह सम्मान कि अगर बीमार हो तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा नुद्धार करे तो उसका प्रायश्चित्त आचार्यगण पंचकल्याणक बताते हैं ॥ १०० ॥

सर्वभूरिषु भांडेषु मध्यमेष्वमध्यमेषु च ।

पष्ठं चतुर्थमेवैकस्थितिः सौवीरभोजनं ॥१०१॥

अर्थ—वैयाट्य करनेके लिए नितने भर पात्र लाये जाय
उन सबके प्रक्षालन करनेका प्रायश्चित्त एक पष्ठ है । उनमेंसे
योडे पात्रोंके ... उपवास प्रायश्चित्त है । उससे भी
... पात्रे ... पान प्राय-

1

2

3 4 5

6 7 8

परिपारण करने आदिका पंचकल्याणक मायधिरा है ॥११६॥

मेधुने रात्रिभुक्तो च स्वस्थानं परिकीर्तितं ।

स्त्रियोः संधौ प्रसुप्तस्य मनोरोधान्न दूषणं ॥११७॥

अर्थ—उपसर्गवश मेधुन संबन्ध करने भार रात्रिमें भोजन करनेका मायधिरा पंचकल्याणक कहा गया है । यह मायधिरा वसक परिणामोंकी नातिका विचार कर देना चाहिए । तथा दो स्त्रियोंके बीचमें साथे हुए साधुके लिए पनको रोकनेके कारण कोई दूषण नहीं है । भावार्थ—ऐसा पाका भानाय कि दोनों तरफसे दो स्त्रियां सोई हुई हैं और बीचमें आप साया हुआ हो, पर मनमें कोई तरहका विकार भाव उत्पन्न नहीं हुआ हो तो उस साधुके लिए कोई मायधिरा नहीं है ॥११८॥

आवश्यकमकुर्वाणः स्वाध्यायान् लघुमासिकं ।

एकैकं वाप्रलेखायां कल्याणं दंडमश्नुते ॥११८॥

अर्थ—जो साधु साप्ताहिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, मति-
अपण, मत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक
क्रियार्थोंको और दो स्वाध्याय दिनके और दो रातके एवं चार
तरहके स्वाध्यायोंको न करे तो वह सधुपास मायधिराको प्राप्त
होता है तथा इन छह आवश्यक क्रियार्थोंमेंसे एक एकको न करे
और संतर उपकरण आदिका मतिनेखन न करे तो कल्या-
णक मायधिराको प्राप्त होता है ॥ ११९ ॥





तीन उपवास और ग्रीष्मकालमें षष्ठ-दो उपवास निरंतर देने चाहिए । यह तीनों कालोंमें देनेयोग्य मध्यम तप है ॥ १३२ ॥

अथ मध्यम तप कितना देना चाहिये यह बताया जाता है—

वर्षाकालेऽष्टमं देयं पष्ठमेव हिमागमे ।

चतुर्य ग्रीष्मकाले स्यात्तप एव लघन्यकं ॥ १३३ ॥

अर्थ—वर्षाकालमें षष्ठ्य-तीन उपवास, शीतकालमें षष्ठ-दो उपवास और ग्रीष्मकालमें चतुर्थ-एक उपवास व्यवधानरहित देने चाहिए । यह तीनों कालोंमें देने योग्य मध्यम तप है ॥

आगे दूसरी तरह कालका और तपका विभाग करते हैं—

अथवा द्विविधः कालो गुरुलघुरिति क्रमात् ।

शरद्वसन्ततापाः स्युर्गुरवो लघवः परे ॥ १३४ ॥

अर्थ—अथवा गुरुकाल और लघुकाल इस क्रमसे काल दो प्रकारका है । शरद, वसंत और ग्रीष्म ये तीन गुरुकाल हैं । अवशिष्ट वर्षा शिशिर और हेमन्त ये तीन लघुकाल हैं । भाषार्थ—एक वर्षमें छह ऋतुएं होती हैं और शरद महीनेका एक वर्ष होना है तथा दो दो महीनेकी एक एक ऋतु होती है उनके नाम शरद, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर और हेमन्त हैं । आसोज और कार्तिक ये दो महीने शरद ऋतुके, फाल्गुन और वैशाख ये दो वसंत ऋतुके, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये दो ग्रीष्म ऋतुके, भाद्रपद और भाद्रपद ये दो वर्षा ऋतुके, मगसिर और पूष ये दो

चीषा : मंग होता है । तथा कान गुरु भार तप भी गुरु यह
पांचवां : मंग होता है । इनको पूर्ण मस्तार संदष्टि—

१, २-१, २, ३, २,

१, १-२, ३, २, २, यह है ॥ ११५ ॥

इति श्रीनंदिगुप्तविरचिते प्रायश्चित्तसमुच्चये

कानाधिकारस्तुतीयः ॥ ३ ॥

४-क्षेत्राधिकार ।

अथ क्षेत्र अधिकारका कथन करने हैं —

क्षेत्रं नानाविधं ज्ञेयं गणेन्द्रेणाटता भुवं ।

अथवा दशधा क्षेत्रं विज्ञेयं हि समासतः ॥ १३६ ॥

अर्थ—पृथ्वीतल पर विहार करनेवाले आचार्यको क्षेत्रके
अनेक भेद जानने चाहिये । अथवा संक्षेपसे क्षेत्र दश प्रकारका
संयोजना चाहिये । भावार्थ—क्षेत्र नाम देशका है । कोई देश
आयुक्त-जीवोंके अधिक संचारसे रहित होते हैं, कोई अआयुक्त-
जीवोंके अधिक संचारसे पूर्ण होते हैं । कहीं संपन्नी होते हैं,
कहीं नहीं होते । कहीं भित्ति पिचना सुलभ होता है, कहीं दुर्लभ
होता है । कहीं लोग मक्षपरिणामी होते हैं, कहीं रौक्षपरि-
णामी होते हैं इत्यादि देशके अनेक भेद हैं अथवा संक्षेपः देशके
दश भेद हैं ॥ १३६ ॥

इति चैत्रमें कितना मायश्चित देना चाहिये यह बताते हैं—

शीतलं यद्भवेद्यत्र रससंसृष्टभोजनं ।

तत्रोत्कृष्टं तपो देयमुष्णे रूक्षे तु हीनकं ॥१३८॥

अर्थ—जो चैत्र ठंडा हो जहाँ पर कि दूध, दही आदि रसों-
के साथ मधुरतासे भोजन खाया जाता हो ऐसे मगध आदि
देशोंमें उत्कृष्ट तप मायश्चित देना चाहिये । तथा पारवाड़,
विषय, आनक, पारिपात्र, पाल्ना आदि उष्ण क्षेत्रोंमें जहाँ पर
कि रूक्ष आहार अधिक मिलता हो वहाँ बहुत थोड़ा मायश्चित
देना चाहिये ॥ १३८ ॥

इति श्रीनंदिगुरुविरचिते मायश्चित्तसमुषये

क्षेत्राधिकारव्यतुलः ॥ ४ ॥

५-आहारलाभाधिकार ।

यत्रोत्कृष्टो भवेद्ग्रामः तत्रोत्कृष्टं तपो भवेत् ।

अप्यमेऽपीपदनं च रूक्षे क्षमणवर्जितं ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें उत्कृष्ट आहारलाभ हो जहाँकि संगी
मगध पिप्पलहृत्तोग श्रद्धा आदि गुणाति युक्त हो, स्निग्ध,
मधुर नाना तरहके अच्छे अच्छे आहार देने हो वहाँ उत्कृष्ट
तपश्चित देना चाहिये और जहाँ अप्यप दनका लाभ होता

पुरुष और उसकी शक्ति धैर्य आदि पर भी विचार करना चाहिए इन सबका अच्छी तरह विचार कर मायस्थित देना चाहिए ॥ १४० ॥

भाग पुरुषको बताते हैं—

अथाद्वोऽथ मृदुर्गर्वी गीतार्थश्चेतरोऽल्पवित् ।
दुर्बलो नीचसंघातः सर्वपूर्णस्तथार्यिका ॥१४१॥

अर्थ—अथा नाम अभिलाष-रुचिका है, वह जिसके हो पर आद्व अर्थात् अद्वैतवात् है। जो आद्व नहीं अद्वैतरहित है वह अथाद्व है। मृदु नाम नम्रका है। गर्वी मानीको कहते हैं। जिसने जीवादि पदार्थ जाने हैं वह गीतार्थ है। इतर नाम अगीतार्थका है, जिसको जीवादि पदार्थोंका ज्ञान नहीं है जो अल्प ज्ञाता जानता है वह अल्पवित् है। दुर्बल नाम धनरहित निर्बलका है। जिसके जपन्य संइनन है वह नीचसंघातशब्दा कहा जाता है। जो मय गुणोंमें समान है वह सर्वपूर्ण है। तथा र्यिका अर्थात् संपत्तिका ये दश पुरुष हैं इनका विचार कर मायस्थित देना चाहिए ॥ १४१ ॥

गर्वितो द्विविधो ज्ञेयो दीक्षया तपसा बली ।
छेदेन छेद्यमानोऽपि पर्यायी गर्वितो भवेत् ॥१४२॥

अर्थ—अभिमानि दो तरहका जानना। एक दीक्षाभिमानि और दूसरा तपोभिमानि। जो छेद मायस्थित द्वारा दीक्षा

पूर्वदीक्षितको पहले नमस्कार करते हैं और वह पूर्वदीक्षित
 उन पश्चाद्वदीक्षितोंको बादमें नमस्कार करता है । छेद आदि
 श्रायश्चित्तके देने पर वह पूर्वदीक्षित उन पश्चाद्वदीक्षितोंको
 पहले नमस्कार करता है और पश्चाद्वदीक्षित पूर्वदीक्षितको
 पीछे नमस्कार करते हैं । ऐसी दशामें वह मृदु परिणामी विचार
 करता है कि पश्चाद्वदीक्षित साधुओंने आकर मुझे पहले
 नमस्कार किया और मैंने बादमें किया ना किया और यदि
 उनको मैंने पहले नमस्कार किया तो किया इसमें पेरी क्या
 हानि है ? इस तरह जो अपने मृदु परिणामों द्वारा छेद श्राय-
 श्चित्तसे अनिच्छा प्रकट नहीं करता है उसको उपवासादि श्राय-
 श्चित्त देना चाहिए । छेद और मूल श्रायश्चित्त नहीं देना
 चाहिए ॥ १४४ ॥

प्राज्यं तपो न कुर्वाणः किं शुद्धयेच्छेदमूलतः ।
 गुर्वाज्ञामात्रतोऽथ हृद्धाने देयं तपस्ततः ॥ १४५ ॥

अर्थ—जो बड़े बड़े उपवासादि तपधरण नहीं करता है वह
 गुरुको आज्ञासे प्राप्त केवल छेद और मूलसे क्या निर्दोष होगा ?
 इस तरह श्रद्धान न करनेवालेको उपवासादि श्रायश्चित्त देना
 चाहिए ॥ १४५ ॥

गीतार्थे स्यात्तपः सर्वं स्थापनारहितोऽपरः ।
 छेदो मूलं परीहारे मासश्चाल्पश्रुतेऽपि च ॥ १४६ ॥

अर्थ—गीतार्थ दो तरहका है । एक सापेक्ष और दूसरा निर-

सर्वं तपो बलोपेते धृत्या हीने धृतिप्रदं ।
देहदुर्वलमाश्रित्य लघु देयं द्विवर्जिते ॥ १४८ ॥

अर्थ—शरीर बलमें परिपूर्ण व्यक्ति को भालोचना आदि दानों मायाश्रित देने चाहिए । धृतिरहित को धर्म प्रदान करने जाना तब देना चाहिए अर्थात् जिस किसी मायाश्रित के देनेसे हमको पर्ये हो वही मायाश्रित उसे देना चाहिए । शरीरबल रहित पुरुषका जिस मायाश्रित के देनेमें उसका शरीर बल तदवस्थ रहे वही मायाश्रित उसे देना चाहिए । तथा धृतिरहित और शरीर बल रहित व्यक्ति को पहलेसे भी लघु मायाश्रित देना चाहिए ॥ १४८ ॥

अन्त्यसंहननोपेतो बलवानागमान्तगः ।
तस्य देयं तपः सर्वं परिहारेऽपि मूलगः ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो अर्थनारायण संहनन, कीनिकसंहनन और अर्धमास सृष्टादिकसंहनन इन तीन अन्त्य संहननोंमें से किसी एक संहननसे युक्त है बलवान है और परमागमरूप महा समुद्रका पारगाभी है उसको उपवासादि पणमाय पर्यंतके सभी मायाश्रित देने चाहिए । तथा वह अन्त्य संहननवाना परिहार मायाश्रित के प्राप्त होने पर भी मूल मायाश्रित को प्राप्त होता है ॥

आदिसंहननः सर्वगुणो योऽजितनिद्रकः ।
देयं सर्वं तपस्तस्य पारं चेऽप्यनुपस्थितिः ॥ १५० ॥

अणैरेतैः समग्रोऽसौ जघन्योत्कृष्टमध्यमां ।
 तैराणिकीं गुणश्रेणिं निःशेषामभिपूरयेत् ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त गुणोंमें परिपूर्ण यह अनुपस्थान माय-
 त्त नामा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट चिंतन गुणोंकी सब
 तिको पूर्ण करे ॥ १५१ ॥

द्वाद्या ये गुणाः पूर्वमनुपस्थानवर्णिताः ।
 पारंरिकेऽपि ते किन्तु कृतकृत्योऽधिमंहतिः ॥

अर्थ—अर्थात्, प्रति, वैराग्य, परिणामविमुक्ति आदि गुण
 जो पहले अनुपस्थापना मायश्चित्तमें कहे गये हैं वे सब पारंपरिक
 मायश्चित्तमें भी होते हैं किन्तु इतना बिनाप है कि पर पारंपरिक
 मायश्चित्तवाला कृतकृत्य अर्थात् सम्पूर्ण शारीरका ज्ञान और
 व्याख्याता होता है, निद्राविजयी होता है और अन्न वनस्पति
 होता है ॥ १५२ ॥

सर्वगुणसमग्रस्य देयं पारंरिकं भवेत् ।
 व्युत्सृष्टस्यापि येनास्याशुद्धभावो न जायते ॥

अर्थ—सब गुणोंमें परिपूर्ण पुरुषको पारंपरिक क्षयश्चित्त
 देना पारिधेय । जिससे कि संघटित शरीर कर देने पर भी जिसके
 अणुद माय न हो ॥ १५३ ॥

पंचदोषोपसृष्टस्य पारंचिकमनूदितं ।

न्युत्सृष्टो विहरेदेव सधर्मरहितक्षितौ ॥१५॥

अर्थ—तीर्थकरासादनादि पांच दोषों कर संयुक्त प
लिए पारंचिक प्रायश्चित्त कहा गया है । तथा संघमें
किया गया यह पारंचिक प्रायश्चित्तशाना पुरुष जिस
साधर्म्य नहीं है उस देशमें विहार करे ॥ १५४ ॥

आदिसंहननो धीरो दशपूर्वकृतश्रमः ।

जितनिद्रो गुणाधारस्तस्य पारंचिकं विदुः ॥१६॥

अर्थ—जिसके वज्रवृषभनाराच नायका पहला संहनन
धैर्यवान् है, दशपूर्वका ज्ञाता और व्याख्याता है, निद्रा
है और सम्पूर्ण गुणोंका आधार है उसके पारंचिक प्राय
कहा गया है ॥ १५५ ॥

आर्यायाः स्यात्तपः सर्वं स्थापनापरिवर्जितं

सप्तमासमपि प्राज्यं न पिच्छच्छेदमूलगं ॥१७॥

अर्थ—आर्यिकाको स्थापनारहित सभी प्रायश्चित्त दिये
हैं । तथा सप्तमास प्रायश्चित्त भी आर्यिकाको देने । यद्यपि

स्वामीके तीर्थमें छह माससे ऊपर उपरासादि प्राय
नहीं हैं तो भी सप्तमाससे अधिक प्रायश्चित्त आर्यिकाको
तथा पिछ छेद और मूल ये तीन प्रायश्चित्त उसको नहीं
चाहिए । भावार्थ—पिछ नाम परिहार प्रायश्चित्तका है व

परिहार मायाश्चित्त करनेवाला मैं परिहार मायाश्चित्त करनेवाला हूँ यह जतानेके लिए भागे पिच्छका दिखाता है इसलिये परिहार मायाश्चित्तको पिच्छ मायाश्चित्त कहते हैं । छेद नाम दीक्षा छेदनेका है और मून नाम पुनः दीक्षा धारण करनेका है ॥१५६॥

प्रियधर्मा बहुज्ञानः कारणावृत्यसेवकः ।

ऋजुभावो विपक्षेस्तोद्विकेर्द्वात्रिंशदाहताः ॥१५७॥

अर्थ—प्रियधर्म—धर्ममें प्रेम रखने वाला, बहुज्ञान—शास्त्रोंका ज्ञान, बहुश्रुत, कारणों—व्याधि उपसर्ग आदि कारणोंके दोषोंका सेवन करनेवाला—सहेतुके, आहृत्यसेवक—एक पार दोष सेवन करनेवाला अर्थात् सहकारी, ऋजुभाव—सरल स्वभावी इन पाँचोंको पाँच स्थानोंमें एक एक भङ्गके आकारमें स्थापना करें । तथा इनके विपक्षी अविपक्ष, अवश्रुत, अहेतुक, असहकारी और अनृजुभाव इन पाँचोंको दो दो भङ्गके आकारमें उनके नीचे स्थापन करें । १ १ १ १ १ इस तरह स्थापन कर परस्पर गुणनेसे ३२ भङ्ग हो जाते हैं । यहाँ पर भी यन्त्रिकी तरह संख्या, प्रस्तार, अक्षसंकमण, नष्ट और उत्तिष्ठ ये पाँच प्रकार समझने चाहिये ।

मध्यम संख्याविधि बताने है ।

सर्व्वेपि पुञ्चभंगा उवारिमभंगेषु एकमेकेषु ।

मेलंतित्तिय कमसो गुणिये उप्पज्जये संखा ॥

अर्थात् परमे परनेके भंग ऊपर ऊपरके एक एक भंगमें पा



भाउ जगद रखे १ १ १ १ १ १ १ १ । इनके ऊपर सङ्कटकारी
और असङ्कटकारीका पिंड दो दो रखे ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ।
इनको जोड़नेसे सोलह होते हैं । पुनः इन सोलहको एक एक
विरसन कर रखे १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ ।
इनके ऊपर अनुभाव और अननुभावका पिंड दो दो रखे
३ । इनको जोड़नेसे बत्तीस
होते हैं । इस तरह मस्तार रूप स्थापन किये बत्तीस भद्रोंके
उच्चारण करनेकी विधि कहते हैं । प्रियधर्म, बहुश्रुत, सदेतुक
सङ्कटकारी, अनुभाव यह पहली उच्चारणा १ १ १ १ १ । अमिय-
धर्म, बहुश्रुत, सदेतुक, सङ्कटकारी, अनुभाव २ १ १ १ १ यह
दूसरी उच्चारणा इसी तरह आगेकी सब उच्चारणा निकाल सेना
शास्त्र जिनका पूर्ण कोष्ठक आगे दिया गया है । मस्तार संदष्टि
[स मकार है—

[illegible]

112211221122112211221122112211221122

11112222111122221111222211112222

1111111333333333111111112222222222

[illegible]

• पादां भेदोक्ता मयाण्य ३२ हे और पंक्ति पांच हैं । “भंगापाद-
माणेन” इस पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार पादों की पंक्तिमें एकान्त-
रित, दूसरी पंक्तिमें द्वयंतरित, तीसरी पंक्तिमें त्रयंतरित, चौथी
पंक्तिमें चतुष्टयंतरित और पांचवी पंक्तिमें षडष्टयंतरित

सौंदर्य नव भादि स्थानको आते हैं तब पंचपात्र अंजुभावको छोड़कर अनंजुभावमें संचार करता है । सो इस प्रकार है—

१ नियधर्म, बहुश्रुत, संदेतुक, सहकारि, अंजुभाव	१	१	१	१	१
२ अनियधर्म, " " " "	२	१	१	१	१
३ नियधर्म अवशुश्रुत " " "	१	२	१	१	१
४ अनियधर्म " " " "	२	२	१	१	१
५ नियधर्म बहुश्रुत अहेतुक " "	१	१	२	१	१
६ अनियधर्म " " " "	०	१	२	१	१
७ नियधर्म अवशुश्रुत " " "	१	२	२	१	१
८ अनियधर्म " " " "	२	२	२	१	१
९ नियधर्म बहुश्रुत संदेतुक असहकारि " "	१	१	१	२	१
१० अनियधर्म " " " "	२	१	१	२	१
११ नियधर्म अवशुश्रुत " " "	१	२	१	२	१
१२ अनियधर्म " " " "	२	२	१	२	१
१३ नियधर्म बहुश्रुत अहेतुक " "	१	१	२	२	१
१४ अनियधर्म " " " "	२	१	२	२	१
१५ नियधर्म अवशुश्रुत " " "	१	२	२	२	१
१६ अनियधर्म " " " "	२	२	२	२	१
१७ नियधर्म बहुश्रुत संदेतुक सहकारि अनंजुभाव	१	१	१	१	२
१८ अनियधर्म " " " "	२	१	१	१	२
१९ नियधर्म अवशुश्रुत " " "	१	२	१	१	२
२० अनियधर्म " " " "	२	२	१	१	२

कोई भी उच्चारणा पूछी उसमें दोषोंका कौनसा भेद है यह
 मान्य न हो तो इस गाथा द्वारा मान्य कर लिया जाता है ।
 जैसे किसोंने पूछा—पञ्चोत्तरी उच्चारणमें कौनसा अक्षर है तब
 पञ्चोत्त संख्या २५ स्थापनकर प्रियधर्म और अप्रियधर्म २ का
 भाग दिया बारह सन्ध हुए और एक बाकी बचा । “शेषं अक्षरार्द्धं
 जानोहि” इसके अनुसार प्रियधर्म सम्पन्नता चाहिए क्योंकि
 निषधम और अप्रियधर्ममें पढ़ना प्रियधर्म है । बारह जो सन्ध
 आये हैं उसमें “नन्धे रूपं प्रतिप” इसके अनुसार एक पिनाया
 तरा हुए इनमें बहुश्रुत और अशुश्रुतके प्रमाण दोका भाग
 दिया छह सन्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके
 अनुसार पढ़ना बहुश्रुत ग्रहण किया । फिर सन्ध छहमें एक
 पिनाया सात हुए इनमें संहतुर्क और अहंतुर्कका भाग दिया
 तीन सन्ध आये और एक बाकी बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार
 पढ़ना संहतुर्क ग्रहण किया । फिर सन्ध तीनमें एक पिनाया
 बार हुए इनमें संहतुर्कारी और असंहतुर्कारीके प्रमाण दोका
 भाग दिया दो सन्ध आये बाकी कुछ नहीं बचा “शुद्धे सति
 अत्रोऽन्ते निष्ठति” इसके अनुसार अंतका असंहतुर्कारी ग्रहण
 किया । “शुद्धे सति रूपवत्तेषांऽपि न कर्तव्यः” इसके अनुसार
 सन्ध दोमें एक भी नहीं पिनाया और अनुभाव और अननु-
 भावका प्रमाण दोका भाग दिया सन्ध एक आया बाकी
 कुछ नहीं बचा पूर्वोक्त नियमके अनुसार अंतका अनुभाव
 ग्रहण किया । इस तरह पञ्चोत्तरी उच्चारणमें नियमों, बहुश्रुत,

सहेतुक, असकृत्कारी और अशुभभाव नामका अन्तः
इस तरह अन्य उच्चारणोंके अन्त भी निकाल लेने चाहिए।

आगे उल्लिखित विधि कहते हैं—

संज्ञाविज्जुण स्वरं उवरिओ मगुणित्तु मयमाणे ।

अवणिज्ज अणकिदय कुज्जा पढमंतियं चेव ॥

अर्थात् एक रूप रखकर अपने ऊपरके प्रमाणसे गुणा
और अनंकितको घटावे इस तरह मध्यपर्यंत करे। भावार्थ
यहां जो भेद ग्रहण हो उसके आगेकी संख्या अनंकित न
जाती है जैसे प्रियधर्म और अप्रियधर्मसे यदि प्रियधर्म
ग्रहण हो तो उसके आगेवाने अप्रियधर्मको अनंकित समझना
चाहिए। इसी तरह बहुश्रुत और अचक्षुत, सहेतुक और
अहेतुक, सकृत्कारी और असकृत्कारी तथा शुभभाव और अशुभभाव
में भी समझना चाहिए। जैसे किसीने पूछा प्रियधर्म
बहुश्रुत, अहेतुक, असकृत्कारी, शुभभाव यह कोनसी उच्चारण
है तब मध्यम एकरूप रक्खा उसको ऊपरके शुभभाव और

८३ . प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए अनंकित अशुभभावको घटाया एक रहे इसको सकृत्कारी और असकृत्कारी
का प्रमाण दोसे गुणा किया दो हुए, यहां अनंकित कोई नहीं
दो ही रहे, इनको सहेतुक और अहेतुकका प्रमाण दोसे गुणा
किया चार हुए अनंकित कोई नहीं, चार ही रहे इनको बहुश्रुत
और अचक्षुत का प्रमाण दो से गुणा किया आठ हुए अनंकित

शुद्धाधिकार ।

अथदुष्कृतको घटाया सात रं इनका विषयमें और भक्ति का प्रमाण दोसे गुणा किया चौदह हुए अनंतिन भविष्य घटाया तेरह रं । इस तरह विषयमें, वदुष्कृत, अंतुक्त, कृत्कारो, अंतुमार नामको तेरहवीं उच्चारणा सिद्ध होत यही विधि अन्य उच्चारणाओंके निराचनेमें भी करनी चाहिए अथ रत्नकर संग्रहा निकाननेको उद्दिष्ट करने हैं । पहले नि कृति, पुरुषदत्त, आचाम्न, एकस्थान और तपण इन पांचे मन्त्रक शनाका ५, त्रिमयांगो १०, त्रिमयांगो १०, चतुःसंयोगो और पंचमयोगी १ एवं ३१ शनाकाओंका वर्णन कर आये हैं इतनीग शुद्धियां तो ये और एक आनाचना शुद्धि एवं बत्ती शुद्धियां उक्त बत्तीस दापो या पुरुषोंका क्रमसे प्रायश्चित्त है मथप पुरुषकी आनाचना, द्वितीयकी निर्विकृति, तृतीयकी पुरुष दत्त, चतुर्थकी आचाम्न, पंचमकी एकस्थान, छठकी उपसात, सातवेंकी निर्विकृति और पुरुषदत्त नामका दो संयोगवाली छठी शनाका शुद्धि । इस तरह भक्ति पुरुषको गुरु और मनु दोपका विचार कर एक एक शनाका प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥

द्वात्रिंशत्प्रियधर्माद्या अप्याचार्यादिकाः पुनः ।
गर्विताद्या दशोद्दिष्टास्तेभ्यो देयं यथोचितं ॥

अर्थ—प्रियधर्मादि बत्तीस पुरुष ऊपर बता चुके हैं । आचार्य आदि आठ पुरुषोंको आगे बतावेंगे तथा गर्वित गुरु आदि दस पुरुषोंका भी ऊपर बता आये हैं । एवं बत्तीस, आठ

प्रवृत्तिपर ।

सर्वाङ्गजातरोमांचो वैयावृत्यं तपो महत् ।
लाभद्वयं सुमन्वानः श्रेष्ठित्वे पुत्रलाभवत् ॥१६४॥

अर्थ—तथा नित्यकं मां सरारमें रोयांच उत्पन्न हो गये हैं,
और जो वैयावृत्य और गुरु तप दोनों की प्राप्ति को धनवानके
पुत्र लाभकी तरह अच्छा मानता है वह उभयतर है ।

भावार्थ—धनवानके धन लाभ तो है ही। पुत्र उत्पत्ति हो
जानेमें उसे विशेष रूप होता है उसी तरह जो वैयावृत्य और
तप दोनोंकी प्राप्तिमें यदा रक्षित होता है वह उभयतर है ॥१६४॥

वैयावृत्यं समाधत्स्व तपो वेति गणीरितः ।
तत एकतरं धत्ते स्वेच्छयान्यतरः स्मृतः ॥१६५॥

अर्थ—वैयावृत्य करो अथवा तप करो इस प्रकार आचार्यने
कहा । अनन्तर जो पुरुष एकको ना धारण करता है और
दूसरेको अपनी इच्छानुसार धारण करता है वह अन्यतर माना
गया है ॥ १६५ ॥

वैयावृत्यं न यो वोढुं प्रायश्चित्तमपि क्षमः ।
दुर्वलो धृतिदेहाम्यामलब्धिर्नोभयः स तु ॥१६६॥

अर्थ—जो पुरुष वैयावृत्य और उपवासादि प्रायश्चित्त धारण
करनेमें सपर्य नही है और धैर्यवश तथा देहवशमें दुर्बल है और
साधनार्जन है वह अनुमय है ।

वैयावृत्य और



द्विप्रकाराः पुमांमोऽय सापेक्षा निरपेक्षकाः ।

निरपेक्षकाः ममर्थाः स्युराचार्याद्यास्तथेतरैः ॥

अर्थ—पुरुष दो तरह के होते हैं एक सापेक्ष, जो आचार्योक्ति अनुग्रहकी आशङ्का रखने है कि आचार्य हम पर अनुग्रह करें । दूसरे निरपेक्ष, जो आचार्योक्ति अनुग्रहकी आशङ्का नहीं रखने । इनमें निरपेक्ष जो आचार्य आदि हैं वे पुरुष हैं जो ममर्थ—पदाशुक्तिशास्त्रों होते हैं । तथा इनके आचार्य दूसरे सापेक्ष होते हैं ॥ १७० ॥

गीतार्थाः कृतकृत्याश्च निरपेक्षा भवन्त्यमी ।

आलोचनादिका, तेषामष्टधा शुद्धिरिष्यते ॥१७१॥

अर्थ—ये निरपेक्ष पुरुष गीतार्थ और कृतकृत्य होते हैं । जो जो और दश पूर्व भागों हैं उनके गीतार्थ कहने हैं और जिन्होंने जो पूर्व और दशपूर्वका ग्रन्थ और रूप जानकर अनेक बार अनुराध्यायान किया है वे कृतकृत्य कहे जाते हैं । अतः इनके निष्ठा आलोचनापूर्वक आठ प्रकारकी शुद्धि कही गई है ॥

तेऽप्रमत्ताः सदा मतो दोषं जाते कथंचन ।

तत्क्षणादपकुर्वन्ति नियमेनात्ममाक्षिकं ॥ १७२ ॥

अर्थ—वे निरपेक्ष पुरुष सदाकाय अप्रमदरहित होते हैं यदि किसी कारणवश कोई दोष उत्पन्न हो जाता है—

कोऽपि अगार हा जाता है ता वे उमो समय आत्मसाक्षी पुनर्क
उम दोषका नियमसे पतौकार कर लेते हैं ॥ १७२ ॥

धैर्यमंहननोपेताः स्वातंत्र्याद्योगधारिणः ।

तद्धृदि समुत्पन्नं वहन्ति निरनुग्रहं ॥ १७३ ॥

अर्थ—परम धैर्य मात्र उत्तममंहनन कर सहित व परम योगी-
श्वर स्वातंत्र्य रहनके कारण प्राप्ति भारी भी उत्पन्न हुए दोष-
को प्राप्ति कर अनुग्रही अपेक्षा किया बिना ही स्वयं दूर कर लेते
हैं ॥ १७३ ॥

आलोचनोपयुक्ता यच्छुद्ध्यन्त्यालोचनात्ततः ।

कृत्वाऽपे च मृत्तान्तं शुद्ध्यन्ति स्वयमेव ते ॥ १७४ ॥

अर्थ—ता आलोचना—दोष दूर करनेमें उपयुक्त रहते हैं
व निरपन्न पुण्य आलोचना प्राप्ति शुद्ध हो जाता है। ता भी
व दूसर प्राप्ति करणका आदि नकर मूलपर्यन्त प्रायश्चित्त
अपन प्राप्ति करण कर शुद्ध हो जाते हैं ॥ १७४ ॥

यद्यनक निरपन्न पुण्यका वर्णन किया प्राप्ति प्राप्ति
के वर है—

आचार्यां वृषभां भिक्षुर्गति मांश्चाश्रिधा ।

गीतार्थो वृषभः सर्गः कृत्यकृत्यंतरो पुनः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मात्र पुण्य प्राप्त वरदानक होत है। आचार्य, वृषभ-

मथान, और भित्तु—सामान्य साधु । इनमेंसे आचार्य और मथान पुरुष गीतार्थ अर्थात् सकल शास्त्रोंके वक्ता होते हैं तथा कृत-कृत्य-सम्पूर्ण शास्त्रोंके व्याख्याता भी होते हैं और अकृतकृत्य भी होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता तो होते हैं परन्तु व्याख्याता नहीं होते । भावार्थ—गीतार्थ कृतकृत्य और अकृत-कृत्य ऐसे तीन तीन प्रकारके आचार्य और वृषभ पुरुष होते हैं ॥

गीतार्थश्चेतरो भिक्षुः कृतकृत्येतरस्तयोः ।

आद्यः स्यादपरो द्वेधाधिगतश्चेतरोऽपि च ॥

अर्थ—भित्तु दो तरहका होता है—गीतार्थ और अगीतार्थ । उनमेंसे पहला गीतार्थ दो तरहका है कृतकृत्य और अकृतकृत्य अगीतार्थ भी दो तरहका है—अधिगत और अनधिगत । जो आस्यज्ञानसे तो शून्य है परन्तु स्वयं विचारक है उसे अधिगतार्थ कहते हैं और जो केवल गुरुके उपदेश पर ही निर्भर रहता है उसे अगीतार्थ कहते हैं ॥ १७८ ॥

द्विधानधिगताभिर्यः स्यात्स्थिरास्थिरभेदतः ।

अत्राष्टास्वनधिगते वाँल्लेवाऽस्थिरनामनि ॥

अर्थ—स्थिर और अस्थिरके भेदमें अनधिगत परमार्थ दो तरहका है । जो धर्ममें निश्चय है वह स्थिर कहा जाना है और जो चारित्र्यमें अवाक्यमान है वह अस्थिर कहा जाना है । साथे के इन आठ भेदोंमें अस्थिर नामके अनधिगत परमार्थमें

प्रायश्चित्त है—अर्थात् उस समय वह जो चाहे बड़ो प्रायश्चित्त उसे देना चाहिए ॥ १७७ ॥

कल्याकल्पं न जानाति नानिषेवितसेवितं ।
अल्पानल्पं न बुध्येत तेनेच्छाऽबोधनेऽस्थिरे ॥

अर्थ—यह अनगत अस्थिर पुरुष योग्य और अयोग्यको मेव्य और अमेव्यको तथा अल्प दोषाचरणको और बहुत दोषाचरणको नहीं जानता इसलिये उसके लिए इच्छा ही प्रायश्चित्त है ॥ १७८ ॥

कर्मोदयवशाद्दोषोऽधिगतेषु भवेद्यदि ।
तेषां स्याद्दशधा शुद्धिरागमाभ्यनुरागतः ॥ १७९ ॥

अर्थ—यदि अधिगत परमार्थ पुरुषोंको कर्मों उदयवश कोई दोष लग जाय तो उनको यदि आगममें अनुराग होनेके कारण आज्ञाचनाका आदि लेकर श्रद्धान पर्यन्त दश तरहकी है ॥ १८० ॥

इति धीमन्दिग्गुणवर्जितं प्रायश्चित्तमनुष्णये

पुनराधिकारः षष्ठः ॥ १ ॥

छेद-अधिकार ॥ ७ ॥

अब दश मन्त्रका प्रायश्चित्त कहा जाता है । मध्य प्राय-
श्चित्तका मन्त्रण और निमित्त कहने हैं—

प्रायश्चित्तं तपः श्लाघ्यं येन पापं विशुद्ध्यति ।

प्रायश्चित्तं ममाप्नोति तेनोक्तं दशधेद तत् ॥

अथ—प्रायश्चित्त नामका तपधरण अर्थात् ही श्लाघ्य तप-
धरण है जिसके कि अनुष्ठानसे हम जन्ममें और पूर्वजन्ममें उपा-
र्जन किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं तथा प्रायः—भोक्त अर्थात्
साधर्मिकता चित्त—मन समझ होता है । इस कारण यह प्राय-
श्चित्त पदों दशमकारका कहा गया है । नदुक्त—

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।

तच्चित्तप्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

प्रायोनाम शब्द अर्थात् साधर्मिकता है और चित्त नाम
मनका है । साधर्मिक मनका प्रदण करनेवाले अर्थात् उनके
मनको समझ करनेवाले प्रिया-वर्षको साधर्मिक कहते हैं ।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयनं युतं ।

तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥

प्रायो नाम तपसा है और चित्त नाम निश्चयपुत्तरा

निश्चययुक्त तपको प्रायश्चित्त कहते हैं । अथवा माय नाम लोकका है उनका चित्त जिस कर्मके करनेमें है वह प्रायश्चित्त अथवा प्राय नाम अपराधका है और चित्त नाम विद्युद्दिग्द्वि अपराधको विद्युद्दिको प्रायश्चित्त कहते हैं ।

यह प्रायश्चित्त प्रमादजनित दोषोंको दूर करनेके लिए मार्गोंकी अर्थात् संक्षिप्त परिणामोंकी निर्भयताके लिए, अन्य परिणामोंकी विचलित करनेवाले दोषोंको दूर करनेके लिए अथवा अर्थात् अपराधोंकी परंपराका विनाश करनेके लिए प्रतिज्ञात व्यर्थोंका उल्लंघन न हो इसलिये और संयमकी दृष्टि के लिए किया जाता है ॥ १८० ॥

प्रायश्चित्त कौन दे ? यह बताते हैं;—

प्रायश्चित्तविधावत्र यथानिष्पन्नमादितः ।

दातव्यं बुद्धियुक्तेन तदेतद्दशधोव्यते ॥ १८१ ॥

अथ—प्रायश्चित्त देना साधारण अनुभूतोंका कार्य नहीं है । को देनेमें बुद्धिमान पुरुष ही निपुण है अतः वे पूर्वोक्त विधियों अनुसार आगे कहा जानेवाला दश प्रकारका प्रायश्चित्त दें ॥

आगे दशनकारके प्रायश्चित्तका नाम बताते हैं;—

आलोचना प्रैतिकान्तिद्वयं त्यागो विसर्जनं ।

अथः छेदोऽपि मूलं च परिहारोऽभिरोचनं ॥

अथ—आलोचना, प्रतिकान्ति, द्वय, त्याग, विसर्जन, छेद, अपि, मूल, च, परिहार, अभिरोचन ॥

तप, छेद, मूत्र, परिहार और अदान ये दश मायश्चित्तके भेद हैं ।

१—गुरुके समस्त दशदोष रहित अपने दोष निवेदन करना आलोचना है । वे दश दोष ये हैं—

आकंपित अणुमाणिअ जं दिट्ठं वादरं च सुहमं च ।
उभं सदाउल्लियं बहुजणमव्वत्त तरसेवी ॥

आकंपित, अनुपापित, पददृष्ट, वादर, सुहम, छम, उब्दा-
कुनित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना
दोष हैं ।

(१) महापापश्चित्तके मयमे, अल्पमायश्चित्तके निमित्त,
उपकरण आदि देकर आचार्यको अपने अनुकूल करना आक-
पित नामका पहला आलोचना दोष है ।

(२) इस समय प्रार्थना की जायगी तो गुरुपदाराज मुक्त
पर अनुग्रह कर थोड़ा मायश्चित्त देगा ऐसा अनुमानसे भांपकर,
“वे धन्य हैं जो बीर पुरुषों द्वारा आचरण किये गये दृष्ट
तपको करते हैं” इस प्रकार महातपस्वियोंको स्तुति करते हुए
तपमें अपनी कमजोरी प्रकाशित करना अनुपापित नामका
दूसरा आलोचना दोष है ।

(३) जो दोष दूसरोंने न देखा हो उसे छिपाकर जो
दूसरोंने देखा है उसे कहना तीसरा पददृष्ट नामका
दोष है ।

(४) आनस्य या ममाद्वय अपने सब दोषोंको न जानते हुए सिर्फ स्थूल दोष कहना, अथवा स्थूल दोष कहना और सूक्ष्म दोष छिपा लेना चौथा वाद नामका आलोचना दोष है ।

(५) महादुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे स्थूल दोषको छिपाकर सूक्ष्म दोष कहना सूक्ष्म नामका पाँचवां आलोचना दोष है ।

(६) ब्रतोंमें इस प्रकारका अतीचर लग जाय तो उसका प्रायश्चित्त क्या होना चाहिए इस दंगसे गुरुसे पृच्छकर उसके बताये हुए प्रायश्चित्तको करना छद्मा छन्न नामका आलोचना दोष है ।

(७) पात्निक, चातुर्मासिक और सांवरसरिक अतीचारोंकी शुद्धिके समय जब भारी मुनिसमुदाय एकत्रित हो और उस समय उनके द्वारा निवेदित आलोचनाओंके कथनका प्रचुर कोनाहल हो रहा हो तब अपने पूर्वदोष कहना सातवां शब्दाकुल नामका आलोचना दोष है ।

(८) गुरुने जा प्रायश्चित्त बताया है वह आगमानुकूल है या नहीं इस तरह संशंकित होकर अन्य साधुओंसे पृच्छना अथवा अपने गुरुने पहले किसीको प्रायश्चित्त दिया हो पश्चाद उन्होंने उस प्रायश्चित्तको किया हो उसीको अपन भी कर लेना बहुजन नामका अठवां आलोचना दोष है ।

(९) कुछ भी प्रयोजन रखकर, अपनेसे ज्ञान अथवा संयम में नीचे साधुको "बड़ेसे बड़ा भी लिया हुआ प्रायश्चित्त विशेष फल देनेवाला नहीं होता" इस प्रकार अपने दोष निवेदन कर

६—अनन्त, अवमोदय, वृत्तिपरिसंख्यान, आदि तप करना अथवा उपवास आचाम्ना, एकमुक्ति आदि तप करना तप प्रायश्चित्त है ।

७—निर दीक्षित साधराथ साधुकी दिवस, पक्ष मास आदि के विभागसे दीक्षाछेद देना छेद प्रायश्चित्त है ।

८—अपरिपित्त अपराध पत्र नाने पर उम दिनसे भेकर सम्पूर्ण दीक्षाको नष्ट कर फिर दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है ।

९—पक्ष, मास आदिको अथवा तत्क मंत्रमें पाठ कर देना परिहार प्रायश्चित्त है ।

१०—सौमन आदि पिण्यापत्तियोंको मास शकट गियत हुए साधुको पुनः नवीन, तीर्थसे दीक्षा देना श्रद्धान-गमनायना प्रायश्चित्त है ॥ १८२ ॥

करणीयेषु योगेषु छद्मम्यत्वेन मन्मुनेः ।

उपयुक्तस्य दोषेषु शुद्धिरालोचना भवेत् ॥१८३॥

अर्थ—मन्मुने करने योग्य तत्त्वोंविषयमें अथवा मन, अथवा अज्ञ काय ही वर्तनियोंके विषयमें ग्राहमान होत हुए भी छद्म-म्यत्वात् कारण दान भगने पर आत्मोचना प्रायश्चित्त होता है ॥

मज्जोद्भ्रान्तविद्वागदार्ढ्याममितिमंयतः ।

नो गुनिष्वप्रमत्तश्च निदांभोर्गपि च मंयमे ॥१८४॥

आलोचनारगीणामो गारदायानि नो गुरुं ।

नारदेव स नो शुद्धः समालोच्य विशुद्धयति ॥

आगे प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कब देना चाहिए यह बताते हैं—

मनसावद्यमापन्नो वाचाऽऽमाद्य गुरूनथ ।

उपयुक्तो वधे चापि द्राग्भवेत्तन्निवर्तनं ॥१८८॥

अर्थ—जो मनके द्वारा दुश्चितवनरूप दोषको प्राप्त हुआ हो जिसने वचनोंसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदिको अवज्ञा की हो और जो कायद्वारा लात थप्पड़ आदि मारनेमें प्रवृत्त हुआ हो उसके लिए इस अपराधका प्रायश्चित्त शीघ्र प्रतिक्रमण कर लेना है ॥ १८८ ॥

तत्क्षणोद्वेगयुक्तस्य पश्चात्तापमुपेयुषः ।

स्वयमेवात्मसाक्षि स्यात्प्रायश्चित्तं विशोधनं ॥

अर्थ—जिस क्षणमें दोषरूप परिणत हो उसके अनन्तर हो पट्वेग अर्थात् चतुर्गति संसाररूप अंधकूपमें पतनके भयसे युक्त होने हुए तथा पश्चात्ताप करते हुए उस साधुक के लिए स्वयं ही आत्मसाक्षीपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है अर्थात् वह स्वयं इस प्रकार प्रतिक्रमण करे कि हा ! मुझे पिकार है, मैंने बड़ा बुरा किया, बेरा, दुष्कृत किया है ॥ १८९ ॥

॥ किया करने छेदघोवातजृम्भणे ।

॥ स्वप्ने विस्मृते वापि प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—बेपाठ्य करना भूलजाने पर, छीक, अपोवायु, और जमाई सेने पर, दुःस्वप्न होने पर तथा साधुओंको

प्रतिदिन औषध आदि देना भूल जाने पर भी प्रतिक्रमण प्राय-
श्चित्त होता है ॥ १८० ॥

आभोगे वाप्यनाभोगे भिक्षाचर्यादिके कचित् ।
कथंचिदुत्थिते दंडे प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥ १९१ ॥

अर्थ—भित्तार्थ जाना आदि कोई एक क्रियाविशेषके सम्यक्
सोचने देखा हो या न देखा हो कदाचित् किसी कारणवश
दंडोत्थान (निगके गंड) हो जाने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त
होता है । तदुक्तं—

गोयरगयस्मै लिङ्गुद्वाणे अण्णस्स सक्किलेमे य ।
णिदणगरहणजुत्तो णियमो वि य होदि पडिकमणं ॥

अर्थात् भित्तार्थ निष्पन्न हुए साधुका निगोत्थान होजाने
पर और अपने द्वारा अन्यका संबन्ध होने पर अपनी निद्रा
और गहरी युक्त नियम नामका प्रतिक्रमण होता है ॥ १८१ ॥

सूक्ष्मे दोषे न विज्ञाते छद्मस्थत्वेन चागसां ।
अनाभोगकृतानां च विशुद्धिस्तद्व्ययं भवेत् ॥

अर्थ—अत्यन्त सूक्ष्म दोष जो कि छद्मस्थताके कारण
जाननेमें न आया कि यह दोष है, ऐसे दोषको तथा अनाभोग

१ गोवरगतस्य जिगोत्थानेऽयस्य संबन्धेने च ।

निम्नगर्हणयुक्तो नियमोऽपि च प्रतिश्रुतः ॥

आगे प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कब देना चाहिए यह बताते हैं—

मनसावद्यमापन्नो वाचाऽऽसाद्य गुरुनथ ।

उपयुक्तो वधे चापि द्राग्भवेत्तन्निवर्तनं ॥१८८॥

अर्थ—जो मनके द्वारा दुश्चितवनरूप दोषको प्राप्त हुआ हो जिसने वचनोंसे आचार्य, उपाध्याय, पर्वतक, स्थविर, गणधर आदिको अवज्ञा की हो और जो कायद्वारा लात थप्पड़ आदि मारनेमें मट्टत हुआ हो उसके लिए इस अपराधका प्रायश्चित्त शीघ्र प्रतिक्रमण करना है ॥ १८८ ॥

तत्क्षणोद्वेगयुक्तस्य पश्चात्तापमुपेयुपः ।

स्वयमेवात्मसाक्षि स्यात्प्रायश्चित्तं विशोधनं ॥

अर्थ—जिस क्षणमें दोषरूप परिणत हो उसके अनन्तर हो उद्वेग अर्थात् चतुर्गति संसाररूप अंधकूपमें पतनके भयसे युक्त होने हुए तथा पश्चात्ताप करते हुए उस साधुके लिए स्वयं ही आत्मसाक्षीपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है अर्थात् वह स्वयं इस प्रकार प्रतिक्रमण करे कि हा ! मुझे धिक्कार है, मैंने बड़ा बुरा किया, मेरा, दुष्कृत मिथ्या हो ॥ १८९ ॥

वैयावृत्यक्रियाप्रशे छेदघोवातजृम्भणे ।

दुःस्वप्ने विस्मृते वापि प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करना मूलजाने पर, छींक, अघोरायु, (बाद) और जंमाई सेने पर, दुःस्वप्न होने पर तथा साधुओंको

भक्तपानं विशुद्धं च समादायेपणाहतं ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—एपणादोषोंसे दूषित मासुक भी आहार पानको ग्रहण कर, जितना दूषित है उतनेको या सबके सब सदोष और निर्दोष आहार—पानको छोड़ देने वाला विशुद्ध है—प्रायश्चित्ततरदिन है । भावार्थ—आहार तो मासुक—शुद्ध बना हुआ हो पर वह एपणा दोषोंमें दूषित हो गया हो ऐसे आहार पानके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त उसको छोड़ देना ही है और कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १८६ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च कोटिजुष्टमशुद्धियुक् ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—मासुक भी अन्न पान, वया यह अन्न पान में ग्रहण करने योग्य है या नहीं ? ऐसी आशंका से युक्त हो गया हो तो वह अशुद्ध है अतः उतने हो—जितनेमें कि आशंका उत्पन्न हुई है अथवा सबके सब सदोष और निर्दोष आहारको ही त्याग देनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्ततरदिन है । भावार्थ—मासुक भी आहारमें यह योग्य है या अयोग्य ऐसी आशंका होने पर उस आहारका छोड़ देना ही उसका प्रायश्चित्त है न्य नहीं ॥ १८७ ॥

कृत अर्थात् दोष तो नगे पर जाने नहीं गये ऐसे दोषोंकी
विशुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों हैं ॥ १६२ ॥

दिवसे निशि पक्षेऽन्दे चतुर्मासोत्तमार्थके ।

शैल्यानाभोगकार्येषु पदं यो युक्तयोगिनः ॥

आलोचनोपयुक्तोपि विप्रमादो न वेत्यघं ।

अनिगूहितभावश्च विशुद्धिस्तस्य तद्द्वयं ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो साधु अपना आचरण उचित रीतिसे पालन कर
रहा है, आलोचना करनेमें तत्पर है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें साव-
धान है किन्तु अपने दोषोंको नहीं जानता है तथा अपने भावों-
को भी नहीं छिपाता है उसके—द्वैतिक, रात्रिक, पात्तिक,
चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थक प्रतिक्रमणोंको
सहसा करनेका और दोष तो नगा पर उसका ज्ञान न हुआ
ऐसे अदृष्ट दोष विशेषके करनेका आलोचना और प्रतिक्रमण
प्रायश्चित्त है ॥ १६३—१६४ ॥

शय्यामथोपाधिं पिंडमादायैषणदूषणं ।

प्राग्विज्ञाय विज्ञाते प्रायश्चित्तं विवेचनं ॥ १९५ ॥

अर्थ—वसतिका, उपकरण आर आहार, पदने ग्रहण करने
समय शंकित आदि एषणके दश दोषोंसे दूषित न जानकर
अरण किये गये हों पश्चात् उनका ज्ञान होने पर उनको छान-
देना ही प्रायश्चित्त है ॥ १६५ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च समादायैषणाहतं ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—एषणादोषोंसे दूषित प्रामुक्त भी आहार पानको ग्रहण कर, जितना दूषित है उतनेको या सबके सब सद्दोष और निर्दोष आहार—पानको छोड़ देने वाला विशुद्ध है—प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—आहार तो प्रामुक्त—शुद्ध बना हुआ हो पर वह एषणा दापोंसे दूषित हो गया हो ऐसे आहार पानके ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त उसको छोड़ देना ही है और कोई जुदा प्रायश्चित्त नहीं ॥ १२६ ॥

भक्तपानं विशुद्धं च कोटिजुष्टमशुद्धियुक् ।
तन्मात्रं वाथ सर्वं वा विशुद्धः संपरित्यजन् ॥

अर्थ—प्रामुक्त भी अन्न पान, क्या यह अन्न पान में ग्रहण करने योग्य है या नहीं ? ऐसी आशंका में युक्त हो गया । तो वह अशुद्ध है अन्न उतने ही—जितनेमें कि आशंका त्यज हुई है अथवा सबके सब सद्दोष और निर्दोष आहारको त्याग देनेवाला विशुद्ध है प्रायश्चित्त रहित है । भावार्थ—प्रामुक्त भी आहारमें यह योग्य है या अयोग्य ऐसी आशंका ने पर उस आहारका छोड़ देना ही तन्मात्रं वाथ सर्वं वा य नहीं ॥ १२७ ॥

किया हुआ है भयवा पिण्डशुद्धिमें देव कानकी भपेवा; निसका लेना निषिद्ध है बड़ मानन यदि हाथमें रखवा गया हो, या पात्रमें परोसा गया हो या मुखमें लिया गया हो तो इसका विवेक मायश्चित्त है ॥ २०० ॥

उत्पथेन प्रयातस्य सर्वत्राभावतः पथः ।

स्निग्धेन च निशीथाद्धाविवद्यस्वप्नदर्शने ॥ २०१ ॥

अर्थ—चारों दिशाओंमें मार्ग न मिलने पर उन्मार्ग होकर चलनेका, गीने अमायुक्त मार्ग होकर चलनेका या हरा घास बगीरह पर होकर गधन करनेका भाग आधीरात बात जाननेके बाद भूरे सपने देखनेका मायश्चित्त एक कायोन्तर्गह ॥ २०१ ॥

सस्तरस्य वहिर्देशोऽचक्षुषो विषये मृते ।

रात्रौ प्रमृष्टज्यायां यत्नमुसोपवेशने ॥ २०२ ॥

अर्थ—उत्तेज्यमें शयन स्थानका प्रतिनिधित्व कर रात्रियें यत्नपूर्वक साथे आर बैठे हों, यथात सूर्योदय होने पर गंधाओंके इधर उधर जहाँ नजर नहीं पड़चला ऐंसे पास ही के चलने फिरनेके स्थानमें कोई जोर धरा हुआ देखनेमें आव तो उसका मायश्चित्त कायोन्मगह ॥ २०२ ॥

व्यापन्ने च त्रसे दृष्टे नद्याध्मागाढकारणात् ।

नावा निदोषयोत्तारे कायोन्मगो विज्ञोधने ॥

अर्थ—धरे हुए घस जानोंके देखनेका भाग हसनोंके चिह्न

तक करना । इसी तरह निर्बिकृति और आचाम्न, निर्बिकृति और एकस्थान, निर्बिकृति और जपवास आदि द्विसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर क्रम सम्पन्ना चाहिए । दो, दो, तीन तीन, चार चार, पांच पांच, छठ छठ आदि द्विसंयोगी शलाकाओंको करने सामान्य आहार करना निरन्तर द्विसंयोगी शलाकाओंके करनेका क्रम है । उसी तरह त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर छठ गद्दीने तक करना चाहिए । एवं षष्ठापवास, (बेना) अष्टमोपवास (तेजा) दशमोपवास (चाना) द्वादशोपवास (पर्बला) पद्मोपवास, मासोपवास आदि तथा एककल्याण पंचकल्याणक आदि विशेष तर्पोंका संग्रह भी यहाँ पर सम्पन्ना चाहिए । इस तरह यह कल्पव्यवहार प्रायश्चित्तका अभिप्राय है ॥ २१० ॥

अपमृष्टे परामर्शं कंठ्यत्वाकुंचनादिषु ।

जलखेलादिकोत्सर्गे पंचकं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—बिना प्रतिनेखन की हुई वस्तुओंको स्पर्श करनेका, स्तुजानेका हाथ पैर आदिके संकाचन, पसारन, आदि अग्निसे छद्मर्तन परावर्तन आदि क्रियाविशेषके करनेका, तथा स्थानमें घन-मूत्र करने कफ डालने आदिका प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २११ ॥

च करोद्धर्ते जन्धासंपुटवेशने ।

च पंचकं ॥ २१२ ॥

अर्थ—निगका हाथसे परिषदेन करने पर, जो दोनों
अंगमोरे वध्यसे रत्न पर तथा कटि, ईंट, काष्ठ, मयूर, मस्य
शोमर आदि बिना ही हुए पीलोंको मोड़ने-फोड़ने पर प्रण
करने पर, कल्याणक प्रायश्चित्त होता है ॥ २१२ ॥

तंतुच्छेदादिके लोके दन्ताकुल्यादिभिस्तथा ।
इत्यादिकं दिवाऽणीयो गुरुः स्याद्रात्रिसेवने ॥

अर्थ—गुरु तंतु, कृण, काष्ठ आदि वस्तुओंको दन्त-
बंगनी आदिम मोड़ने-फोड़नेका प्रवृत्त प्रायश्चित्त है । इन तंतु-
छेदन आदि कृत्योंको दिनमें बड़े मों मधुनर प्रायश्चित्त और
रात्रिमें बड़े मों गुप्तर प्रायश्चित्त होता है ॥ २१३ ॥

प्रायश्चित्तं चरन् ग्लानो रोगादातंकतो भवेत् ।
नीरोगस्य पुनस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—दिये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करता हुआ मुनि
यदि किसी रोगमें या जडगूँन गिरः गूँन आदिके निषिक्तो
सोईत हो जाय तो उसका नारोग होने पर कल्याणक प्राय-
श्चित्त देना चाहिए ॥ २१४ ॥

प्रायश्चित्तं बहन् सूरः कार्यं संसाधयेत् शुधीः ।

रदेशे स्वदेशे वा दातव्यं तस्य पंचकं ॥ २१५ ॥

अर्थ—उपवास आदि प्रायश्चित्त करता हुआ बुद्धिमान मुनि
निरांको भाकर या स्वदेशमें वा भाकर प्राचार्य (गुरु)

तक करना । इसी तरह निर्विकृति और आचाम्न, निर्विकृति और एकस्थान, निर्विकृति और जवास आदि द्विसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर क्रम समझना चाहिए । दो, दो, तीन तीन, चार चार, पांच पांच, छठ छठ आदि द्विसंयोगी शलाकाओंको करने मामान्य आधार करना निरन्तर द्विसंयोगी शलाकाओंके करनेका क्रम है । इसी तरह त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी शलाकाओंका सान्तर और निरन्तर छठ महीने तक करना चाहिए । एवं षष्ठापवास, (बेना) अष्टमोपवास (तेजा) दशमोपवास (चाला) द्वादशोपवास (पचीना) पत्तोपवास, मासोपवास आदि तथा एककल्याण पंचकल्याणक आदि विशेष तपोंका संग्रह भी यहाँ पर समझना चाहिए । इस तरह यह कल्याण्यवहार प्रायश्चित्तका अभिप्राय है ॥ २१० ॥

अपमृष्टे परामर्शे कंडूत्याकुंचनादिषु ।
जलखेलादिकोत्सर्गे पंचकं परिकीर्तितम् ॥

अर्थ—बिना प्रतिनिवेदन की हुई वस्तुओंको स्पर्श करनेका खोज खुजानेका हाथ पेर आदिके संकाचने, पसारने, आदि शब्दसे उद्धर्तन परावर्तन आदि क्रियाविशेषके करनेका, तथा अनतिनिवेदित स्थानमें मल-मूत्र करने कफ डालने आदिका कल्याणक प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ २११ ॥

दंडस्य च करोद्धर्तं जंघासंपुटवेशने ।
कंठकाद्यननुज्ञातभंगादाने च पंचकं ॥ २१२ ॥

अर्थ—निगका हाथसे परिमर्दन करने पर, उसे दोनों जंघाओंके मध्यमें रखने पर तथा काँटे, ईंट, काष्ठ, खपर, भस्म गोप्य आदि बिना दी हुई चीजोंको तोड़ने-फोड़ने और ग्रहण करने पर, कल्याणक प्रायश्चित्त होता है ॥ २१२ ॥

तंतुच्छेदादिके स्तोके दन्ताङ्गुल्यादिभिस्तथा ।

इत्यादिकं दिवाऽणीयो गुरुः स्याद्रात्रिसेवने ॥

अर्थ—गूच्छ तंतु, तृण, काष्ठ आदि वस्तुओंको दन्त-जंघना आदिमें तोड़ने-फोड़नेका पंचक प्रायश्चित्त है । इन तंतु-च्छेदन आदि कृत्योंकी दिनमें करे तो सषुत्तर प्रायश्चित्त और रात्रिमें करे तो गुह्यतर प्रायश्चित्त होता है ॥ २१३ ॥

प्रायश्चित्तं चरन् ग्लानो रोगादातंकतो भवेत् ।

नीरोगस्य पुनस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—दिये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करना हुआ मुनि यदि किसी रोगमें या जठराग्नि शिरः शूल आदिके निमित्तमें पीड़ित हो जाय तो उसका नारोग होने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१४ ॥

प्रायश्चित्तं बहन् सूरः कार्यं संसाधयेत् मुषीः ।

परदेशे स्वदेशे वा दातव्यं तस्य पंचकं ॥ २१५ ॥

अर्थ—उपवास आदि प्रायश्चित्त करना हुआ बुद्धिमान मुनि देशान्तरोंको जाकर या स्वदेशमें ही जाकर दानार्थ (

का कोई कार्य मायन करे तो उसका कार्यसाधन कर
आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१५ ॥

सालंबो यत्नतोऽश्वानं योऽभिब्रजति संय
निस्तीर्णस्य सतस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत्

अर्थ—जो कोई संयत, किसी देव ऋषिके कार्यके
यत्नपूर्वक मार्ग गमन करे-कहीं जाय नो उसको
वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१६ ॥

नखच्छेदादिशस्त्रादि वास्याद्येदं डकादिके ।
लघुगुर्वेकचत्वारः परश्चाद्येष्ट कर्तने ॥ २१७ ॥

अर्थ—नखच्छेदादि नहनी, छुरा, कंचो आदिसे
बगैरड को छीनने पर लघुमास, शस्त्रादि छुरी खुरपा
से छीनने पर गुरुमास, वास्यादि बमूना आदिसे छीनने
लघुचतुर्मास और परश्चादि कुल्हाड़ी आदिसे टुकड़े कर
गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१७ ॥

एकहस्तोपलाभ्यां च दोभ्यां मौद्गरमौसलात
लघुगुर्वेकचत्वारः प्रभेदादिष्टकादितः ॥ २१८ ॥

अर्थ—सिर्फ हाथसे इटलकड़ी आदि चीजोंको
फोड़ने पर एक लघुमास, एक हाथ और पत्थर दोनोंसे
एक हाथमें पत्थर सेकर तोड़ने-फोड़ने पर एक गुरुमास,

का कोई कार्य साधन करे तो उसको कार्यसाधन कर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१५ ॥

सालंबो यत्नतोऽध्वानं योऽभिघ्नजति संयतः ।
निस्तीर्णस्य सतस्तस्य दातव्यं पंचकं भवेत् ॥

अर्थ—जो कोई संयत, किसी देव ऋषिके कार्यके निमित्त यत्नपूर्वक मार्ग गमन करे-कहीं जाय तो उसको लौटकर वापिस आने पर कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २१६ ॥

नखच्छेदादिशस्त्रादि वास्याद्यैर्दंडकादिके ।
लघुगुर्वेकचत्वारः परश्चाद्यैश्च कर्तने ॥ २१७ ॥

अर्थ—नखच्छेदादि नहर्नी, छुरा, केंची आदिसे लकड़ी बगैरह को छीलने पर लघुमास, शस्त्रादि छुरी खुरपा आदि से छीलने पर गुरुमास, वास्यादि बमूना आदिसे छीलने पर लघुचतुर्मास और परश्चादि कुल्हाड़ी आदिसे टुकड़े करने पर गुरुचतुर्मास प्रायश्चित्त होता है ॥ २१७ ॥

एकहस्तोपलभ्यां च दोभ्यां मौद्गरमौसलात् ।
लघुगुर्वेकचत्वारः प्रमेदादिष्टकादितः ॥ २१८ ॥

अर्थ—मिर्फ हाथसे इट नकड़ी आदि चीजोंको तोड़ने फोड़ने पर एक लघुमास, एक हाथ और पत्थर दोनोंसे अर्थात् एक हाथमें पत्थर लेकर तोड़ने-फोड़ने पर एक गुरुमास, दोनों

नपुंसकस्य कुत्स्यस्य क्लीबाद्यस्य च दीक्षणे ।
वर्णापरस्य दीक्षायां पण्मासा गुरवः स्मृताः ॥

अर्थ—नपुंसकको, कुत्त (कोड़) ब्रह्महत्या आदि दोषों-
से दूषित पुरुषको, क्लीब—दीनको, आदि शब्दसे अत्यन्त
बातक और अत्यन्त वृद्धको तथा वर्णापर—दासीपुत्रको दीक्षा
देने पर दीक्षादाताको छह गुरुमास प्रायश्चित्त देने चाहिए सो
ही छेदपिठमें कहा है—

अइवालबुद्धदासेरगर्भिणीसंढकारुगादीणं ।
पव्वज्जा दितस्स हु छग्गुरुमासा हवदि छेदो ॥ १ ॥
अतिवालवृद्धदासेरगर्भिणीपिंडकारुकादीनां ।
प्रवज्यां ददतः हि षड्गुरुमासाः भवति च्छेदः ॥

अर्थात् अत्यन्त बातक, अत्यन्तवृद्ध, दासीपुत्र, गर्भिणी
स्त्री, नपुंसक, युद्ध आदिको दीक्षा देनेवालेके लिए छह गुरुमास
प्रायश्चित्त है ॥ २२१ ॥

तपोभूमिमतिक्रान्तो न प्राप्नो मूलभूमिकां ।
छेदाहं तपसो भूमिं संप्रपद्येत भावतः ॥ २२२ ॥

अर्थ—जा तपकी योग्यताको उल्लंघन कर गुरु हो और
मूलभूमिको प्राप्त न हुआ हो वह परमार्थमें छेद योग्य तपो
भूमिको प्राप्त होता है । भावार्थ—जो तप प्रायश्चित्तकी योग्यता

नेकर जितना समय दीक्षा हो चुकता है उसमें कान्त
विभागसे जितनी दीक्षा छेद दी जाती है उतनी कम हो जाती
है अतः उस छेदसे उसका उतना दीक्षाभिमान नष्ट हो जाता है
वह छेद एक दिन दो दिन, तीन दिन, पंच, मास आदिकी
अवधि पर्यंत होता है ॥ २२४ ॥

साधुसंघं समुत्सृज्य यो भ्रमत्येक एव हि ।

तावत्कालोऽस्य पर्यायिच्छिद्यते समुपेयुषः ॥

अर्थ—जा कोई साधु मुनिसंघका छोड़कर अकेला परि-
भ्रमण करता रहे तो लौटकर वापिस आने पर उसकी उतनी
दीक्षा—जितने काल तक कि वह अकेला घूमता रहा है छेद
देना चाहिए ॥ २२५ ॥

सन् यथोक्तविधिः पूर्वमवसन्नः कुशीलवान् ।

पार्श्वस्थो वाय संसक्तो भूत्वा यो विरहत्यभीः ॥

यावत्कालं भ्रमत्येव मुक्तमार्गो निरुत्सुकः ।

तावत्कालोऽस्य पर्यायिच्छिद्यते समुपेयुषः ॥

अर्थ—जा पहले शास्त्रोक्त आचरणको पालता हुआ बाद
भवसन्न, कुशील, पार्श्वस्थ और संसक्त होकर यथेष्ट निर्भीकता-
से पर्यटन करता रहे । पर्यटन करते करते जब वह लौटकर
वापिस आवे तब जितने काल तक वह रत्नत्रयसे रहित और
बर्मे में निरुत्सुक होता हुआ भ्रमण करता रहा है उतने कालतक
की उसकी दीक्षा छेद दी जाती है ॥ २२६-२२७ ॥

मार्ग उतने दिनों तक प्रतिदिन पांच पांच, दश दश और पंद्रह पंद्रह गुणों दीक्षा छेद देनी चाहिए ॥ २३० ॥

प्रत्यहं छेदेनं भिक्षोर्दशाहानि परे गणे ।

दशपंच वृषस्यापि विंशतिर्गणिनः पुनः ॥

अर्थ—परगणमें सामान्य साधुके लिए प्रतिदिन दशदिनका प्रधानमुनिके लिए पंद्रह दिनका और आचार्यके लिए बीस दिन का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त है । भावार्थ—कोई सामान्य साधु कनक करके बिना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मार्ग तो दश दिन, दो दिन न मार्ग तो बीस दिन एवं प्रतिदिन दश दश दिनके हिमायमे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए । तथा प्रधान मुनि कनक करके बिना क्षमा कराये परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मार्ग तो पंद्रह दिन, दो दिन न मार्ग तो तीस दिन, एवं प्रतिदिन पंद्रह पंद्रह दिनके हिमायमे उसकी दीक्षाका छेद कर देना चाहिए और आचार्य कनक करके बिना क्षमा मार्ग परगणमें चला जाय वह यदि एक दिन क्षमा न मार्ग तो बीस दिन, दो दिन क्षमा न मार्ग तो चासी दिन एवं प्रतिदिन तीस तीस दिनके हिमायमे उसकी दीक्षा छेद देनी चाहिए ॥ २३१ ॥

इत्यादिप्रतिमेषामुच्छेदः स्यादवगादिकः ।

छेदेनापि च मंथित्याद्यावन्मूलं निरन्तरम् ॥

अर्थ—इत्यादि दोषोंके मारने करने पर इन नारका छेद

प्रायश्चित्त होत है छेद करके भी फिर छेद करे, फिर छेद करे, फिर छेद करे, तो निम्नर छेदने छेदने तर तक छेद करे जब तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त न हो । भावार्थ—कौन कौनसे दोषोंके भगने पर कितने कितने दिनको दीक्षा छेद देना चाहिए यह ऊपर बगन कर पाये है । यह दीक्षा दोषोंके अनु-सार एक दिनको आदि लेकर एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, दस दिन, पक्ष, मास, चतुर्मास, छह मास, वर्ष, दीक्षाका आधा भाग, पना भागका इस तरह छेदते छेदते तर तक छेदो जाय जब तक कि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होजा ॥ २३० ॥

छेदभूमिमतिक्रान्तः परिहारमनापिवान् ।

प्रायश्चित्तं तदा मूलं मंप्रपद्येत भावतः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जो छेद प्रायश्चित्तको योग्यताको तो उल्लंघन कर चुका हो और परिहार प्रायश्चित्त दिये जाने की योग्यताको न पहुँचा हो उस समय वह प्रपद्येत मूल-पुनः दीक्षा देना रूप प्रायश्चित्तको प्राप्त होना है । भावार्थ—पेक्षा अपराध जो छेद प्रायश्चित्तमें छेद न हो सकना हो और परिहार प्रायश्चित्तके योग्य न हो ऐसा दशम मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३३ ॥

श्रामण्यैकगुणा यस्मादोपात्रश्रयन्ति कात्स्न्यतः ।

अष्टव्रतस्य तत्तम्य मूलं स्याद् व्रतरोपणं ॥ २३४ ॥

अर्थ—जिस दोषके सेवनमें यदावत विनकुल नष्ट हो गये हो,

ऐसी अवस्थामें महाव्रतोंसे भ्रष्ट उस मुनिको पुनः महाव्रतोंको दीक्षा देना यह मूल श्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३४ ॥

द्वचचारित्रव्रतभ्रष्टे त्यक्तावश्यककर्मणि ।

अन्तर्वत्नीभुक्तुंसोपदीक्षणे मूलमुच्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—दर्शन, चारित्र और महाव्रतोंसे भ्रष्ट हो जाने पर छह आवश्यक क्रियाएं छोड़ देने पर तथा गर्भिणी और नपुंसकको दीक्षा देनेपर मूल श्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उत्सृत्रं वर्णयेत् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति ब्रुवन् ।

यथाच्छंदो भवत्येष तस्य मूलं वितीर्यते ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो आगम विरुद्ध धारता हो उसे मूल श्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा जो सबज्ञ मणीत वचनोंको अपनी इच्छानुसार भोगोंको कहता फिरता हो वह स्वेच्छाचारी है अतः उस स्वेच्छाचारीको भी मूल श्रायश्चित्त देना चाहिए । भावार्थ—आगमः विरुद्ध बोधनेवाले और सबज्ञ मणीत वचनोंका मनमाना अर्थ करनेवाले पुरुषोंके इन अपराधोंकी शुद्धि मूल श्रायश्चित्तमें होती है ॥ २३६ ॥

पार्श्वम्यादिचतुर्णां च तेषु प्रव्रजिताश्च ये ।

तेषां मूलं प्रदातव्यं यद्व्रतादि न तिष्ठति ॥

अर्थ—पार्श्वम्य, कुशीन, अरमश्र और मृगशरी इन पार्श्व-स्थादि चारोंको और जो इनके पाम दीक्षित हुए हैं उनको मूल श्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि ये सब महाव्रत आदिसे भ्रष्ट हैं ॥

ऐसी अवस्थामें महाव्रतोंमें भ्रष्ट उस मुनिको पुनः महाव्रतोंकी दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३४ ॥

दृक्चारित्रव्रतभ्रष्टे त्यक्तावश्यककर्मणि ।

अन्तर्वत्नीभुक्तुंसोपदीक्षणे मूलमुच्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—दर्शन, चारित्र और महाव्रतोंमें भ्रष्ट हो जाने पर छह आवश्यक क्रियाएं छोड़ देने पर तथा गर्भिणी और नपुंसकका दीक्षा देनेपर मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उत्सूत्रं वर्णयेत् कामं जिनेन्द्रोक्तमिति श्रुवन् ।

यथाच्छन्दो भवत्येष तस्य मूलं वितीर्यते ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो आगम विरुद्ध धारणा हो उसे मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा जो सर्वज्ञ शक्तीन वचनोंको अपनी इच्छानुसार भोगोंको कहना फिरता हो वह स्वेच्छाचारी है अतः उस स्वेच्छाचारीको भी मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए । भावार्थ—आगम विरुद्ध सोमनेवाले और सर्वज्ञ शक्तीन वचनोंका धनमाना अर्थ करनेवाले पुरुषोंके इन अपराधोंकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्तमें होती है ॥ २३६ ॥

पार्श्वम्यादिचतुर्णां च तेषु प्रव्रजिताश्च ये ।

तेषां मूलं प्रदातव्यं यद्व्रतादि न तिष्ठति ॥

अर्थ—पार्श्वम्य, कुञ्जीन, अरुमन्न और मृगगात्र इन पार्श्व-व्यादि चारोंको और जो इनके पाग शीघ्रित हुए हैं उनको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि ये सब महाव्रत आदिमें भ्रष्ट हैं ॥

अन्यतीर्थगृहस्थानां कांदर्पाह्लिङ्गकारिणः ।

मूलमेव प्रदातव्यमप्रमाणापराधिनः ॥ २३८ ॥

अर्थ—अन्यनिगियोंको, गृहस्थोंको, उपद्रास पूर्वक तिग-
धारण करनेवालोंको और अपरिमित अपराधियोंको मूल
मायधित ही देना चाहिए । भावार्थ—जो अन्य निगी हो गये
हों और गृहस्थ हो गये हों वे स्नातकर पुनः संपर्क आवें तो
उन्हें मूल मायधित ही देना चाहिए । तथा जिन्होंने परमाधेसे
मुनिवेष धारण न कर उपद्राससे धारण किया हो और जिनका
अपराध अपरिमित हो उनको भी मूल मायधित ही देना
चाहिए ॥ २३८ ॥

इत्यादिप्रतिसेवासु मूलनिर्घोतिनीष्वपि ।

हरिवंश्यादिदीक्षायां मूलं मूलाधिरोहणात् ॥

अर्थ—मूलगुणोंको प्राप्त करनेवाले उपर्युक्त दीपोंके
सेवन करने पर तथा चांदान आदिको दीक्षा देने पर मूल माय-
धितकी योग्यता भा उपस्थित होती है अतः मूल मायधित
देना चाहिए । भावार्थ—सदाशिव आदि उद्गास मूलगुणोंके
प्राप्तक दीपोंके सेवन करने पर मूल मायधित देना चाहिए
और चांदानोंको मुनिदीक्षा देनेवाले आचार्यका भी मूलमाय-
धित देना चाहिए और जिसका दावा हो जाय उमको संपर्क
निवृत्ति देना चाहिए ॥ २३९ ॥

मूलभूमिमतिक्रान्तः संप्राप्तः परिहारकं ।

परिहारविधिं प्राज्ञः संप्रपद्येत भावतः ॥ २४० ॥

अर्थ—मूलप्रायश्चित्तकी योग्यताको उल्लंघन कर चुका हो
अर्थात् ऐसा अपराध जो मूल प्रायश्चित्तसे शुद्ध न हो सकता हो
तो वह परिहार प्रायश्चित्तके योग्य होता है अतः वह बुद्धिमान्
परमार्थसे परिहार प्रायश्चित्तका प्राप्त होता है ॥ २४० ॥

परिहार्यः न संघस्य न वा संघं परित्यजन् ।

परिहारो द्विधा सोऽपि पारंच्यप्यनुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह प्रायश्चित्तभागी पुरुष संघका परिहार्य होता है
अथवा वह संघका परिहार करता है । परिहार प्रायश्चित्तके दो
भेद है एक अनुपस्थान और दूसरा पारंरिक । भावार्थ—
किसी नियम अवाधिकां लिए हुए वह प्रायश्चित्तभागी पुरुष
संघमें बाहर कर दिया जाता है अथवा वह संघसे बाहर रहता
है इसीका नाम परिहार प्रायश्चित्त है । अनुपस्थान और पारं-
रिक ये दो उसके भेद हैं ॥ २४१ ॥

शिक्षकेरपि नो यस्य सुश्रूपावन्दनादिकम् ।

अभ्युत्थानं विधीयेत कुर्वतः सोऽनुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह माधु जा अनुपस्थान-प्रायश्चित्तके योग्य होता है
अपने पश्चात् दान्तिन हुए माधुओंकी सेवा-सुश्रूषा करता है,
उन्हें वंदना करता है और उन्हें आने देखकर विनयके अर्थ

सन्मुख जाना है परन्तु वे पश्चात् दीक्षित साधु उसकी सेवा सुश्रूषा नहीं करते, उसे नमस्कार नहीं करते और न उसे आते देखकर विनयके निमित्त सन्मुख ही जाने हैं । भावार्थ—जिस साधुको अनुपस्थान-प्रायश्चित्त दिया जाता है वह मुनि-परिषत्-से बत्तीस धनुष-प्रमाण दूर बैठकर गुरुद्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त-का अनुष्ठान करता है । पश्चात् दीक्षित साधुओंको भी स्वयं वन्दना आदि करता है पर वे पश्चात् दीक्षित साधु उसे वन्दना आदि नहीं करते । इस अनुपस्थान-प्रायश्चित्तके दो भेद हैं । एक स्वगण-अनुपस्थान दूसरा परगण-अनुपस्थान । स्वगणानुपस्थान प्रायश्चित्तमें वह सापराध साधु अपने दोषोंकी आलोचना अपने संघके आचार्यके समीप हो करता है । और परगणानुपस्थान-प्रायश्चित्तमें परसंघके आचार्योंके समीप जा जा कर करता है । वह इस तरह कि—जिस गणमें जिस साधुको दोष आदि हेतुओंसे दोष लगते ह उस गणके आचार्य उस सापराध साधुका कितना दुमर सपके आचार्यके समीप भेजते हैं । वहाँ जाकर वह उस संघके आचार्यके समस्त अपने दोषोंकी आलोचना करता है । वे आचार्य भी उसके दोष गुनकर और प्रायश्चित्त न देकर किसी अन्य संघके आचार्यके समीप भेज देने हैं । वहाँ भी वह अपने दोषोंकी आलोचना करता है । पश्चात् वहाँमें भी वह उसी तरह और और आचार्योंके पास भेज दिया जाता है । इस तरह तीन, चार, पाँच, छह, सात संघके आचार्योंके पास तक अपराधके अनुसार भेजा जाता है । आखिर,

गणके आचार्य उसको आज्ञाचना सुनकर और प्रायश्चित्त न देकर जिस आचार्यने उसे अपने पास भेजा है उन्हींके पास उसे वापिस भेज देते हैं । वे अपने पास भेजनेवालेके पास भेज देते हैं एवं जिस क्रमसे जाता है उसी क्रमसे लौटकर अपने संघके आचार्यके समोप आता है । वहां आकर वह गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको पावता है ॥ २४२ ॥

अन्यतीर्थं गृहस्थं स्त्रीं सचित्तं वा सकर्मणः ।

चोरयन् वालकं भिक्षुं ताडयन्ननुपस्थितिः ॥

अर्थ—अन्य निर्गीको, गृहस्थीको, स्त्रीको और वाचकको चुरानेवाला तथा अपने साधर्म्य अर्पिके छात्रोंको भी चुराने वाला और साधुको दंड आदिसे मारनेवाला अनुपस्थान प्रायश्चित्तका भागी होता है । भावार्थ—इस तरहके कर्तव्य करने वालेको अनुपस्थान प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४३ ॥

द्वादशेन जघन्येन पण्मास्या च प्रकर्षतः ।

चरेद् द्वादश वर्षाणि गण एवानुपस्थितिः ॥

अर्थ—वह अनुपस्थान प्रायश्चित्तवाला मुनि अपने संघमें ही जघन्यमे पांच पांच उपवास और उत्कृष्टपनेमे छह छह महीने के उपवास बारह वर्षपर्यंत करे । भावार्थ—कपसे कम निरंतर पांच उपवास करके पाण्मा करे फिर पांच उपवास करके फिर पाण्मा करे एवं बारह वर्ष तक करे तथा अधिकमे अधिक छह महीनेके उपवास करके पाण्मा करे फिर छह महीनेके उपवास

करके पारणा करे एवं चारह वर्ष तक करे । और मध्यम छह छह उपवास कर पारणा करने हुए सात सत्त उपवास कर पारणा करने हुए चारह वर्ष तक करे ॥ २४६ ॥

एवमाद्यनुपस्थानप्रतिसेवाविलंघितः ।

मायश्चित्तं तु पारं चं प्रतिपद्येत भावतः ॥ २४७ ॥

अर्थ—इत्यादि अनुपस्थान परिहारके योग्य दापाचरणोंका जो लक्षण बन कर चुका है वह परमार्थमें पारं चिक मायश्चित्तको प्राप्त होता है । भावार्थ—ऐसा दापाचरण जो अनुपस्थान-परिहार नामके मायश्चित्तमें दूर न हो सकता हो ऐसी दशामें इससे ऊँचा पारं चिक मायश्चित्त दिया जाता है ॥ २४७ ॥

अपूज्यश्चाप्यमंभोगो दोषानुद्घुष्य गच्छतः ।

बहिष्कृतोऽपि तद्देशात् पारं चो तेन स स्मृतः ॥

अर्थ—यह अपूज्य है और अवंदनीय है इस तरह दापोंकी बढोपणा पूर्वक वह देशमें भी निकास दिया जाता है इसनिष्ठ वह साधु पारं चिक कहलाता है । भावार्थ—ऋषि, यति, मुनि और अनगर इस चतुर्वर्ण्ये सबको बुनाहर कि यह अपूज्य है अवंदनीय है, मापण करने योग्य नहीं है, महा पातकी है, इस भोगोंसे बहिर्भूत है इस तरह उसके तपाय दोषोंको कहकर वह मनुष्यसे और उस देशसे भी निकास दिया जाता है । जहाँ पर कि भोग धर्म-कर्मको नहीं पहचानने परी जाकर

श्रित्तका आचरण करता है इसलिये उसे पारंरिक कहते हैं ।
 'पारंची' शब्दकी व्युत्पत्ति भी ऐसा है कि "धर्मस्य पारं तीरं
 अंचति गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो धर्मको पार-तीरको
 पहुँच गया है वह पारंची है । अथवा "पारं अंचति परदेशं एति
 गच्छतीति पारंची" अर्थात् जो गुरुद्वारा दिष्ट गये प्रायश्चित्तका
 आचरण करनेके लिये परदेशको जाता है वह पारंची है ॥२४६॥

आसादनं वितन्वानस्तीर्थकृत्प्रभृतेरिह ।

सेवमानोऽपि दुष्टादीन् पारंरिकमुपांचति ॥

अर्थ—तीर्थकर आदिकी आसादना करनेवाला तथा रामाके
 मनिहून दुष्ट पुरुषोंका आश्रय लेनेवाला साधु पारंरिक प्राय-
 श्चित्तका प्राप्त होता है । भावार्थ—जो साधु तीर्थङ्करोंकी अवज्ञा
 कर और राजासे विरुद्ध उसके शत्रुओंका आश्रय लेकर रहे
 उसे पारंरिक प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४७ ॥

आचार्याश्च महर्द्धीश्च तीर्थकृद्गणनायकान् ।

श्रुतं जैनं मतं भूयः पारं व्यासादयन् भवेत् ॥

अर्थ—आचार्य, महर्द्धी, तीर्थङ्कर, गणपरदेव,
 जैनाचार्य और जन-मन इन सबको अवज्ञा करनेवाला साधु पारं-
 रिक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ २४८ ॥

द्वादशेन जयन्येन पण्मास्या च प्रकर्षतः ।

चरेद् द्वादशवर्षाणि पारंची गणवर्जितः ॥२४९॥

अर्थ—वह पारंरिक प्रायश्चित्तवाला मुनि मरणे कारि

रदकर कमसे कम पांच पांच उपवास और अधिकसे अधिक छह छह महीने उपवास बारह वर्ष तक करें । मासार्ध-अथवा मध्यम और अकृष्ट ऐसे तीन भेद पारंरिक मासाधिक्यके हैं । मीनों ही प्रकारका मासाधिक्य बारह वर्ष तक करना पड़ता है । कमसे कम पांच उपवास कर पारणा करें फिर पांच उपवास कर पारणा करें एवं बारह वर्ष तक करें और अधिकसे अधिक छह महीने उपवास कर पारणा करें फिर छह महीने उपवास कर पारणा करें एवं बारह वर्ष तक करें । तथा मध्यम भी छह छह मास सात आदि उपवास कर पारणा करने हुए बारह वर्ष तक करें ॥ २४८ ॥

राजापकारको राज्ञामुपकारकदीक्षणः ।

राजाप्रमहिषी सेवी पारंची मंत्रकीर्तितः ॥

अर्थ—राजाका अहित चितवन करनेवाला, राजाके उपकारक पंथी पुरोहित आदिको दीक्षा देनेवाला और पट्टरानीका मेहनत करनेवाला साथ ही पारंरिक मासाधिक्यके योग्य कहा गया है ॥ २५० ॥

अनाभोगेन मिथ्यात्वं मंत्रान्तः पुनरागतः ।

तदेवज्छेदनं तस्य यत्सम्यग्भिरोचते ॥ २५१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वरूप परिणामोंका प्राप्त होकर पुनः अपनी निन्दा और गद्गद् करता हुआ सम्यक्त्व-परिणामोंको प्राप्त हो गया उसके इन परिणामोंको कोई जान न सके तो उसके

जो उसे रुचे वही प्रायश्चित्त है । भावार्थ—कारणवश सम्यक्त्व परिणामोंसे च्युत होकर मिथ्यात्व परिणामोंको प्राप्त हो जाय अनन्तर वह अपने इन परिणामोंकी निन्दा और गद्गद् करता हुआ पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त हो और उसकी इस परिणतिको कोई न जान सके तो उसके लिए वही प्रायश्चित्त है जो कि उसे रुचे, अन्य नहीं ॥ २५१ ॥

यः साभोगेन मिथ्यात्वं संक्रान्तः पुनरागतः ।
जिनाचार्याज्ञया तस्य मूलमेव विधीयते ॥२५२॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त हो तथा उसकी इस परिणतिको कोई न जान सके तो सर्वज्ञदेव और आचार्योंके उपदेशानुसार उसे मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए ॥ २५२ ॥

प्रायश्चित्तं जिनेन्द्रोक्तं रत्नत्रयविशोधनं ।
प्रोक्तं संक्षेपतः किञ्चिच्छोधयन्तु विपश्चितः ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया, रत्नत्रयकी शुद्धि करने वाला यह छोटासा प्रायश्चित्त-ग्रन्थ नामका शास्त्र संवेगमें मैंने (गुह्यदाम-आचार्यन) बनाया है उसको प्रायश्चित्तादि नाना शास्त्रोंके ज्ञाना विद्वान् शुद्ध करें ॥ २५३ ॥



प्रायश्चित्त-चूलिका ।

अन्योः आश्रयं प्रत्यक्षां निर्गुणं तस्य संपादितं विष-
यं शिष्टायाम्। परिणामनं, निष्प्रपन्नं इष्टदेवताका नय-
स्कार करने हैं—

योगिभिर्योगगम्याय केवलायाविनाशिने ।
ज्ञानदर्शनरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अर्थ—जो योगिर्षा द्वारा ध्यानमें जाने जानें हैं, केवल—
शुद्ध हैं, अविनाशी हैं, ज्ञानज्ञान और केवलदर्शन तथा इनके
अविनाशी अनन्तरीय और अनन्तगुण स्वरूप हैं ऐसे पर-
मात्मा को नमस्कार है ॥ १ ॥

इगद्वार अतीत अनागत और वर्तमानके विषय, माषान्यकी
अपेक्षामें एक मित्र परंपरीकी प्रथम नमस्कार कर उसके
अनन्तर मार्गविषय धर्मिका का प्राम किया जाना है—

मूलोत्तरगुणेष्वीपद्विशेषव्यवहारतः ।
साधूपासकसंशुद्धि वक्ष्ये संक्षिप्य तद्यथा ॥ २ ॥

अर्थ—सूत्रगुण और उत्तरगुणोंके विषयमें संक्षिप्य प्राय-
श्चित्त शास्त्रोंके अनुसार यदि और आवश्यकोंकी शुद्धि संवारे
की जाती है, पर इस प्रकार है । भावार्थ—सूत्रगुण और

गुण दो दो तरहके हैं—यतियोंके और श्रावकोंके। यतियोंके मूलगुण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इत्यादि अठारह हैं। श्रावकोंके मूलगुण मद्यत्याग, मांसत्याग, मद्युत्याग पंच उदुंबरफलोंका त्याग ऐसे अनेक प्रकारके आठ हैं। तथा यतियोंके उत्तरगुण-आतापन, तोरण, स्थान, मौन आदि अनेक हैं और श्रावकोंके उत्तर गुण सामायिक, मोपधोन्नास आदि हैं। इनमें लगे हुए दोषोंकी शुद्धि संक्षेपसे कही जाती है॥

एकेन्द्रियादिजन्तूनां हृषीकगणनाद्वये ।

चतुरिन्द्रियकुद्धानां प्रत्येकं तनुसर्जनं ॥ ३ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव पांचप्रकारके हैं, पृथिवीकायिक, अण्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक। वनस्पति कायिकके दो भेद हैं—प्रत्येक वनस्पति और अनन्त-काय वनस्पति। एक जीवके एक शरीर हो वह प्रत्येककायिक जीव है जैसे सुपारी नारियल आदि। अनन्त जीवोंके एक शरीर हो वे अनन्तकायिक जीव हैं जैसे गूड़ची, मूरण आदि। आदि शब्दसे द्वीन्द्रियादि जीवोंका ग्रहण है। शंख, सोप आदि दो इन्द्रिय जीव, कुंघु, चींटी आदि तेइन्द्रिय जीव, भौरा पत्थरी आदि त्रीन्द्रिय जीव, और मनुष्य, यत्स्य, मकर आदि पंचेन्द्रियजीव होते हैं। इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंको आदि मेकर त्रीन्द्रिय पर्यंतके जीवोंका बंध हो जाने पर उन प्रत्येककी इन्द्रियमत्स्याके अनुसार कायोत्सर्ग प्रापक्षिण होता है।

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च

सोऽभ्यासनिभासयुतास्तथापुः ।

प्राणा दशैते भगवद्विरुक्ता-

स्तेषां वियोगकिरणं तु हिंसा ॥ १ ॥

इति दश प्राणविभेदे एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शेन इन्द्रिय, काय-
बल, उच्छ्वास निभास और आधु ये चार प्राण होते हैं। जो
इन्द्रिय जीवके स्पर्शेन और रसना य दो तो इन्द्रिया कायस्थ
और बलवत्त य दो बल, उच्छ्वासनिभास और आधु ये छ
प्राण होते हैं। तेइन्द्रियजीवके स्पर्शेन, रसना और प्राण ये ती
ती इन्द्रिया, कायस्थ और बलवत्त ये दो बल, उच्छ्वास-
निभास और आधु ये चार प्राण होते हैं। चोइन्द्रियजीवके
स्पर्शेन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, कायस्थ, बलवत्त, उच्छ्वासनिभास
और आधु ये चार प्राण होते हैं। अर्थात्पंचेन्द्रियके पाँचों
इन्द्रिया, कायस्थ बलवत्त, उच्छ्वास निभास और आधु ये
ती प्राण होते हैं। तथा मातृवर्गान्द्रियके पुरोक्त दशो प्राण
होते हैं। इन इन्द्रिय और प्राणादी गणनाके अनुसार उच्छ-
स्वासादी बलवत्तान्द्रिय और आधु, उच्छ्वासगुणादी कायस्थ-
बलवत्तान्द्रिय, श्रोत्रगुणादी बलवत्तान्द्रिय और आधु
और श्रोत्रगुणादी कायस्थबलवत्तान्द्रिय और आधु काइके काये-
स्थेन और उच्छ्वास प्राणादिकों की गणना कर लेना चाहिये।
इति द. १४१ ई। उच्छ्वासगुणादी बलवत्तान्द्रिय इन्द्रिय

अथवा यत्न्ययत्नेषु हृषीकप्राणसंख्यया ।

कायोत्सर्गा भवन्तीह क्षमणं द्वादशादिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—अथवा इस शास्त्रमें यत्नचारी और अयत्नचारी इन दोनों पुरुषोंके इन्द्रियसंख्या और प्राणसंख्याके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं और बारह आदि एकेन्द्रियादि जीवोंके घातसे उपवास मायश्चित्त होता है । भाष्यार्थ—यत्नचारीके इन्द्रिय गणनाके अनुसार और अयत्नचारीके प्राणगणनाके अनुसार कायोत्सर्ग होते हैं । और बारह एकेन्द्रिय, छह दो इन्द्रिय, चार तेइन्द्रिय और तीन चौइन्द्रियके घात करनेका मायश्चित्त एक एक उपवास होता है ॥ ५ ॥

पद्त्रिंशन्मिश्रभावार्कग्रहेकेषु प्रतिक्रमः ।

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकेषु सपष्ठभुक् ॥ ६ ॥

अर्थ—छत्तीस एकेन्द्रियजीव, अठारह दोइन्द्रिय जीव, बारह तेइन्द्रियजीव, नौ चौइन्द्रिय जीव, और एक पंचेन्द्रियजीवके मारनेका मायश्चित्त दो निरन्तर उपवास और प्रतिक्रमण है । भाष्यार्थ—छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंके मारनेका मायश्चित्त दो उपवास और एक प्रतिक्रमण है । इसी तरह अठारह दोइन्द्रिय, बारह तेइन्द्रिय, नौ चौइन्द्रिय और एक पंचेन्द्रियके मारनेका मायश्चित्त सम्पन्नता चाहिए । यहाँ मिश्रमात्र शब्दसे अठारह प्रत्यक्ष है क्योंकि मिश्रमात्र ज्ञान दर्शन आदि अठारह

प्रयत्नचारी हो कल्याण, स्थिर अमयत्नचारी हो तीन उपवास, अस्थिर मयत्नचारी हो कल्याण और अस्थिर अमयत्नचारी हो दो उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८ ॥

पष्ठं मासो लघुर्मूलं मूलच्छेदोऽसकृत्पुनः ।

उपवासात्मयः पष्ठं लघुमासोऽथ मासिकं ॥ ९ ॥

अर्थ—इन्हीं उपर्युक्त आठ पुरुषोंके बारबार असंज्ञी जीवके पातका प्रायश्चित्त दो उपवास, लघुमास, मासिक, मूलच्छेद, तीन उपवास, दो उपवास, लघुमास और मासिक है । भावार्थ—मूलगुणधारी मयत्नचारी स्थिरको बारबार असंज्ञीजीवके पारने का प्रायश्चित्त दो उपवास, अमयत्नचारी स्थिरको कल्याण, प्रयत्नचारी अस्थिरको पंचकल्याण, अमयत्नचारी अस्थिरको मूलच्छेद देना चाहिए । तथा उच्चारणधारी मयत्नचारी स्थिरको तीन उपवास, अमयत्नचारी स्थिरको पष्ठ—दो उपवास, प्रयत्नचारी अस्थिरको कल्याण, और अयत्नचारी अस्थिरको मासिक—पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ९ ॥

एतत्सान्तरभाम्नातं संज्ञिनि स्यान्निरंतरं ।

तीव्रमंदादिकात् भावानवगम्य प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ प्रायश्चित्त एकबार और बारबार असंज्ञीजीवको पारनेवाले साधुके लिए सांतर माना गया है । व्याधि आदि कारणोंका समागम भिन्न जाने पर जो आचार्यको

लेका ।

विद्या करनेमें आधा अर्थात् तीनभाग पर्यंत गृहोपवास कर
करके पारणा करना है । तथा उन मोहन्तरादिकके आत्यय
बंधनोंके विघातका आर्पाक्षिन् हमने आधा अर्थात् देड़ भाग
तकके गृहोपवास है ॥ १७

आद्यणक्षत्रविदञ्छद्रचतुष्पदविधातिनः ।

एकान्तरष्टमासाः स्युः पष्टाद्यन्ताश्च पूर्ववत् ॥

अर्थ—आर्यिक आद्यणक्षत्रविद, चतुष्पद, वंश्य, शूद्र और गोपाय
इनका घात करनेवाले माधुक निष् करनेका तरह आधे आधे
हीन आदि और अन्तमें गृहोपवासपूर्वक आठपास पर्यन्त
के एकान्तरापवास है । आराधे—आर्यिक आद्यणक्षत्रके घातका
आर्पाक्षिन् आठ भाग पर्यन्त एकान्तरापवास करना है । प्रथम
वेना कर पारणा करें उसके बाद उपवास कर फिर पारणा कर
उपवास करें एवं आठ महाने तक करें और अन्तमें भी वेना
करें । सारांश आदि और अन्तमें वेना करें और मध्यम एक एक
दिन छोड़कर उपवास करें । इसी तरह तृत्रियके घातका माय-
विद्या चार महाने तकके एकान्तरापवास वंश्यके घातका दो
पासपर्यन्तके एकान्तरापवास, सुतार (स्वाती) आभी
(गोपाय) कुम्भार आदि शूद्रोंके विघातका एक माह तक
एकान्तरापवास, और गोशर्पाके घातका आर्पाक्षिन् पंद्रह नि-
तकके एकान्तरापवास है । तथा आदि और अन्तमें सर्वत्र वे-
करना भी है ॥ १८ ॥

तृणमांसात्पतत्सर्पपरिसर्पजलौकसां ।

चतुर्दशनवाद्यन्तक्षमणानि वधे छिदा ॥ १४ ॥

अर्थ—मृग, खरगाश, राम आदि तृणचर जीवोंके विनाशका प्रायश्चित्त चौदह उपवास है । सिंह, व्याघ्र, चीना आदि मांस-भक्षी जीवोंके मारनेका तेरह उपवास, तीतर, ययूँ, मुर्गा, कबूतर आदि पक्षियोंके बधका बारह उपवास, सर्प गानस आदि सर्प जातिके मारनेका ग्यारह उपवास, गोरा, सरट आदि परिसर्पोंके विनाशका दश उपवास और मकर, शिशुमार, मत्स्य, कच्छुप आदि जलचर जीवोंके मारनेका प्रायश्चित्त ना उरवास है ॥ १४ ॥

इस तरह मध्यम अहिंसाव्रतसंबन्धी प्रायश्चित्त कथन किया आगे सत्यव्रतसंबन्धी प्रायश्चित्त बताने हैं—

प्रत्यक्षे च परोक्षे च द्वयेऽपि च त्रिधानृते ।

कायोत्सर्गोपवासाः स्युः सकृदेकैकवर्धनात् ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, परोक्ष और उभय (प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों अवस्थाओंमें) एक बार झूठ बोलने तथा मनसे, वचनसे और कायसे झूठ बोलने पर एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग, उपवास और चकारसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त हैं । भावार्थ—प्रत्यक्ष झूठ एक कायोत्सर्ग, एक उपवास और एक प्रतिक्रमण है । परोक्ष झूठ बोलनेका दो कायोत्सर्ग, दो उप-

वास और प्रतिक्रमण प्रार्थना है । मत्पद-प्रोक्त दोनों दान्तोंमें मूठ पोतनेका तीन कायोत्सर्ग तीन उपवास और प्रतिक्रमण है और मन, वचन, कायमें मूठ पोतनेका चार कायोत्सर्ग, चार उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थना है ॥१५॥

असकृन्मासिकं साधोऽगमद्वोपाभिलाषिणः ।
कपायादभियुक्तस्य परैर्वा द्विगुणादि तत् ॥१६॥

अर्थ—कपायवश बार बार मूठ चाननेवाले साधुको पंच-कल्याणक प्रार्थना देना चाहिए । तथा दूसरेमें प्रेरित होकर मूठ पोतनेवालेको पूर्वोक्त कायात्मर्गका आदि लेकर मासिक पर्यन्त जा प्रार्थना करा गया है वह द्वा तिगुना चागुना भयवा इससे भी अधिक गुना देना चाहिए ॥ १६ ॥

नीचः पेशून्यपुष्टस्य गच्छाद्देशाद्विष्कृतिः ।
तच्छ्रुत्वा मन्यमानोऽपि दापपादांशमश्नुते ॥

अर्थ—पशून्य भाग्युक्त निरुष्ट साधुको तो गच्छने और देशसे बाहर निकाल देना चाहिए । जो साधु इस निरुष्ट साधुके उन वचनोंका पान देता है वह भी उसके उस दापके चतुर्थांश का भागी होता है ॥ १७ ॥

इस तरह सत्यव्रतक प्रार्थनाका कथन किया अब अर्थव्रतके प्रार्थनाका कथन करते हैं—

सकृच्छून्ये समक्षं चानाभोगेऽदत्तसंग्रहे ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युः प्राग्वन्मूलगुणो

अर्थ—शून्य स्थानमें और मरत्यत्त्वमें विना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका मायश्चित्त पूर्ववत् एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग और उपवास है। चकारमें प्रतिक्रमण भी है। बार बार विना दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेका मायश्चित्त पंचकल्याणक है। मायाय—निर्जन स्थानमें विना दिये हुए पदार्थके एकवार ग्रहण करनेका प्रतिक्रमण सहित एक कायोत्सर्ग और एक उपवास है। मिथ्यादृष्टियोंके न देखते हुए अपने साधियोंके सामने एकवार अदत्त ग्रहण करनेका मायश्चित्त प्रतिक्रमण पूर्वक दो कायोत्सर्ग और दो उपवास है। अगर मिथ्यादृष्टियोंके देखते हुए एकवार अदत्त ग्रहण करे तो प्रतिक्रमण सहित तीन कायोत्सर्ग और तीन उपवास मायश्चित्त है तथा सोना चांदी आदि अदत्तपदार्थोंके ग्रहण करनेका मायश्चित्त पंचकल्याणक है इतना विशेष समझना चाहिए। बारबार अदत्त ग्रहण करनेका पंचकल्याणक मायश्चित्त है ॥ १८ ॥

आचार्यस्योपधेरर्हा विनेयास्तान् विना पुनः ।
सधर्माणोऽथ गच्छश्च शेषसंधोऽपि च क्रमात् ॥

अर्थ—आचार्यके पुस्तक आदि उपकरणोंको ग्रहण करनेके योग्य उनके शिष्य हैं। शिष्य न हों तो उनके गुरुभाई हैं। गुरुभाई भी न हों तो गच्छ है। तीन पुरुषोंके अन्वयको गच्छ कहते हैं। गच्छ मो न हों तो शेष संघ योग्य है। सप्त पुरुषोंके अन्वयको संघ कहते हैं ॥ १९ ॥

11

12

अथ चतुर्थं प्रायश्चित्तं कर्तुं विधायकं कर्तव्यं—

क्रियात्रये कृते दृष्टे दुःस्वप्ने रजनीमुस्ने ।

सोपस्थानं चतुर्थं नियमाभुक्तिः प्रतिक्रमः ॥

अर्थ—स्याध्याय, नियम और वंदना इन तीन क्रिया-
को करनेके अनन्तर रात्रिके अथवा पहरमें दुःस्वप्न देखने
पर क्रममें सप्ततिक्रमण उपवास, नियमोपवास और प्रतिक्रमण
प्रायश्चित्त है । भावार्थ—तो कोई साधु रात्रिके अथवा पहरमें
स्याध्याय, नियम प्रतिक्रमण, देववंदना इन तीनोंमेंमें कोई
सी एक क्रिया कर मो जाय पश्चात् दुःस्वप्न देखे अर्थात् वीर्य-
पात हो जाय तो उसके लिए सप्ततिक्रमण उपवास प्रायश्चित्त
है । उक्त तीनों क्रियाओंमें कोई भी दो क्रियाएं करके सोने
पर दुःस्वप्न देखे तो बहुत प्रतिक्रमण और उपवास प्रायश्चित्त
है । यदि तीनों क्रियाएं करके सोनेपर दुःस्वप्न देखे तो केवल
प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है ॥ २३ ॥

नियमक्षमणे स्यातामुपवासप्रतिक्रमो ।

रजन्या विरहे तु स्तः क्रमात् पष्ठप्रतिक्रमो ॥

अर्थ—रात्रिके पश्चिम पहरमें एक क्रिया करके सोनेवाले
साधुको दुःस्वप्न देखने पर नियम और उपवास प्रायश्चित्त
देना चाहिए । दो क्रियाएं करके सोये हुएको दुःस्वप्न देखने
पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त देना चाहिए । तथा
तीनों क्रियाएं करके सोये हुएको दुःस्वप्न देखने पर प्रतिक्रमण
और पष्ठोपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ २४ ॥

साय गुप्त बातें करने वाले साधुको संघसे निकाल हो देना चाहिए क्योंकि वह संघे में देवकी आज्ञाको कलंकित करने वाला है ॥ २८ ॥

स्थातुकाम सः चेद्भूयस्तिष्ठेत् क्षमणमौनतः ।
आपण्णाममयः कालो गुरुद्विष्टावधिर्भवेत् ॥

अर्थ—यदि वह साधु संघमें रहनेका इच्छुक हो तो छा महीने तक अथवा गुरु जितना काम चाहे उतने काम तक धनिक्रमण करना हुआ धीनपूर्वक रहे ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा योयामुग्राद्यंगं यम्यः कामः प्रकुप्यति ।
आलोचना तनृत्मर्गस्तम्य ज्येदो भवेदयम् ॥

अर्थ—जिसे देखते हुए अंगोंको देखकर जिसमें काम प्रकुप्यति । आलोचना तनृत्मर्गस्तम्य ज्येदो भवेदयम् ॥

स्त्रीगुह्यान्लोकितो वृष्यरमममेविनो भवेत् ।
रमानां हि परित्यागः म्याव्यायोऽचितरोधिनः ॥

अर्थ—जिसका मन स्त्रीगुह्यान्लोकितो वृष्यरमममेविनो भवेत् । रमानां हि परित्यागः म्याव्यायोऽचितरोधिनः ॥

के आहार ग्रहण करे तो क्रमसे उपवास और षष्ठ प्रायश्चित्त है ।
 भा०ार्थ—रात्रिमें उक्त कारण वश एक प्रकारका आहार ग्रहण
 करे तो उपवास और चारों प्रकारका आहार ग्रहण करे तो षष्ठ
 प्रायश्चित्त है ॥ ३३ ॥

व्यायामगमनेऽमार्गे प्रासुकेऽप्रासुके मतेः ।
 कायोत्सर्गोपवासौ स्तोऽपूर्णक्रोशे यथाक्रमम् ॥

अर्थ व्यायामनिमित्त जन्तुगहित-प्रासुक उन्मार्ग (पण्डरी)
 होकर और जन्तुगहित अप्रासुक उन्मार्ग हो कर जो यदि और
 कायत्सर्ग गमन करे तो उसके निम्न क्रमसे कायोन्मार्ग और उपवास
 प्रायश्चित्त है । भा०ार्थ—प्रासुक उन्मार्ग हो कर गमन करनेका
 कायोन्मार्ग और अप्रासुक उन्मार्ग होकर गमन करनेका उपवास
 प्रायश्चित्त है ॥ ३४ ॥

घननीहारतापेषु क्रोशैर्वन्दि स्वरग्रहेः ।

क्षमणं प्रासुके मार्गे द्विचतुःपदभिरन्यथा ॥३५॥

अर्थ—वर्षाकाल, शीतकाल, और उष्णकालमें प्रासुक मार्ग
 होकर क्रमसे तीन कोश, छह कोश और नौ कोश गमन हो
 और अप्रासुक मार्ग होकर क्रमसे दो, पांच, छह कोश गमन
 करे तो वह अप्राम प्रायश्चित्त है । भा०ार्थ—वर्षाकालमें प्रासुक
 मार्ग होकर तीन कोश, और अप्रासुक मार्ग होकर दो कोश,
 शीतकालमें प्रासुक मार्ग होकर छह कोश और अप्रासुक मार्ग

हो कर चारकोश, गर्भमें मातृक मार्ग हो कर नौ कोश चार
अष्टांगुल मार्ग होकर छह कोश गमन करेता सबका मायधिसा
एक एक उपवास है । यह मायधिसा दिनमें गमन करनेका
है रातमें गमन करनेका भांगके श्लोकोंमें बताया है । यदा शक्ति
मे लीन, स्वरमें छह और ग्रहमें नौ गङ्गाका ग्रहण है ॥ १५ ॥

दशमादष्टमान्द्युद्धो रात्रिगामी मजन्तुके ।

विजन्तो च त्रिभिः क्रोशमार्गं प्रावृषि मयतः ॥

अर्थ—शरसातमें अष्टांगुल और मातृक मार्ग होकर नौ
कोश रात्रिमें गमन करनेवाला मयत प्रथम दशम—पञ्चाशत्
चार उपवास और अष्टम-भगान्तर तीन उपवास करनेमें सुद
होता है । भावाग—पञ्चाशत्के दिनमें अष्टांगुल मार्ग होकर
नौ कोश रातमें गमन करनेका चार निरन्तर उपवास योग
मातृक मार्ग होकर गमन करनेका तीन निरन्तर उपवास माय-
धिसा है ॥ १६ ॥

हिमे क्रोशचतुष्केणाप्यष्टम पष्ठमयित ।

प्रीप्ते क्रोशेषु पदमु स्यात् पष्ठमन्यत्र च क्षमा ॥

अर्थ—शीतकालमें अष्टांगुल मार्ग होकर चार मातृक मार्ग
हो कर रातमें चार कोश गमन करनेका मायधिसा प्रथम निर-
न्तर तीन उपवास और निरन्तर दो उपवास है । तथा गर्होष्ण
योगमें अष्टांगुल मार्ग होकर और मातृक मार्ग होकर छह

कोश रातमें गमन करनेका प्रायश्चित्त क्रममें पष्ठ और उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३७ ॥

सप्रतिक्रमणं मूलं तावन्ति क्षमणानि च ।

स्याल्लघुः प्रथमे पक्षे मध्येऽन्त्ये योगभंजने ॥ ३८ ॥

अर्थ—देशभंग, महामारी आदि कारणों वश पत्रके शुद्ध योगभंग हो तो प्रतिक्रमणसहित पंचकल्याण प्रायश्चित्त है । पत्रके मध्य भागमें योगभंग हो तो पत्रके जितने दिन बाकी रहें उतने उपवास प्रायश्चित्त है और पत्रके अन्तमें योगभंग हो तो लघुपाम प्रायश्चित्त है ॥ ३८ ॥

जानुदग्ने तनूत्सर्गः क्षमणं चतुरंगुले ।

द्विगुणा द्विगुणास्तस्मादुपवासाः स्युरंभसि ॥

अर्थ—घुटनेपरसे पानीमें हाकर जाने तो एक कायात्सर्ग प्रायश्चित्त है । घुटनेमें चार अंगुल ऊपर पानीमें हाकर जानेका एक उपवास प्रायश्चित्त है । उसमें चार चार अंगुल ऊपर पानीमें हाकर जानेका दो उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ३९ ॥

दंडः षोडशभिर्मये भ्रमन्त्येते जलेऽजसा ।

कायोत्सर्गापवासास्तु जन्तुकीर्णं ततोऽधिकाः ॥

अर्थ—य जो कायात्सर्ग और उपवास बड़े गये हैं वे मोना जन्तु (चांगड हाथ) पर्यन्त मये पक्षमें हुए जन्तुओंसे रहित जलमें डालकर जानेके हैं । ग्युनके नहीं । तथा जन्तुओंमें भ्रम

दुष्ट पानीमें होकर जानेका प्रायश्चित्त करने कहे दुष्ट कायोत्सर्ग
और उपवासमें अधिक कायोत्सर्ग और उपवास है ॥ ४० ॥

स्वपरार्थप्रयुक्तेश्च नावाद्येस्तरणे सति ।

स्वल्पं वा बहु वा दद्याज्ज्ञातकालादिको गणी ॥

अर्थ—अपने निमित्त या उनके निमित्त प्रयुक्त नाव आदि-
के द्वारा नदी आदि पार करने पर काल आदिको जाननेवाला
गचार्य थोड़ा या बहुत (कालको जानकर) प्रायश्चित्त दे ।

इस विषयमें छत्रपिढये यह लिखा है—

काउस्सग्गो आलोयणा य नावादिणा णदीतरणे ।

गावाए जलहितरणे मोहो खवणादिपणयंता ॥ १ ॥

उपरणिमिच्चपउंजिद दोणीणावादिणा णदीतरणे ।

प्रण्णे भणोति एगो उपवासो तह विउस्सग्गो ॥ २ ॥

अर्थात्—नाव आदिके द्वारा नदी पार करनेका प्रायश्चित्त
कायोत्सर्ग और आलोचना है । और समुद्र पार करनेका उप-
वासका आदि लेकर कल्याणपर्यंत है । तथा कोई कोई आचार्य
अर्ह है कि अपने निमित्त या उनके निमित्त प्रयुक्त द्रोणी
(बौली) नाव आदिके द्वारा नदी पार करने का एक उपवास
और कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥ ४१ ॥

क्षेण गणिता देयं जलपाने विशोधनं ।

साधूनामपि चार्याणां जलकैलिमद्दामृणिः ॥

नोन है और कई उपवासों के साथ माग कमसे कम एक सप्ताह का आदि नेकर छह माग पर्यन्त उपवास और अधिकसे अधिक आचार्योंपरिष्ट प्रायश्चित्त है ॥ ४८ ॥

हस्तेन हन्ति पादेन दंडेनाथ प्रताडयेत् ।
एकाद्यनेकधा देयं क्षमणं नृविशेषतः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो माधु हाथमें परसे अथवा दंडसे मारना-पीटना है उसको मनुष्य विशेषके अनुसार एकको आदि नेकर अनेक प्रकारके उपवास देने चाहिए ॥ ४९ ॥

यश्च प्रोत्माह्यहस्तेन कलहयेत् परस्परं ।
असंभाष्योऽप्य पृष्ठं स्यादापण्मासं सुपायिनः ॥

अर्थ—जो मुनि हाथोंके इमारेसे उत्साह दिनाकर परस्पर में कलह कराता है वह भाषण करने योग्य नहीं है और उस पापीको छह महीने तकका पष्ठ प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ५० ॥

छिन्नापराधभाषायाप्यसंयतवोधने ।
नृत्यगायेति चालापेऽप्यष्टमं दंडनं मतं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस दोषका पहने प्रायश्चित्त किया गया है उसीको फिर करने पर, सोये हुए अविरतको जगाने पर और नाचो गाओ इत्यादि कहने पर तीन निरंतर उपवास प्रायश्चित्त माने गये हैं ॥ ५१ ॥

ननुर्वर्णापगायाभिभाषिणः म्यादयन्दनः ।

अनेभाष्यश्च कर्तव्यं न गाणं गणिकोऽपि च ॥

अर्थ—यदि मन्त्र पढ़ने, धनकार पढ़ने याप, घायो, धारक, आदिवा नदी पुरान करे ॥ १॥ ननुर्वर्णके अर्थ—
गायत्री वरनराजा याप करेनाय या अनेभाष्य है अर्थ—
कनरा न तो कनरा कनरा याप या न उमके गाय भाषण
कनरा याप ॥ तथा गलम नकन दना याप ॥ फिर यदि
११ अर्द्धमित्र दास या नर कर कि है भगवन्! मुझे
जीवन अर्द्धमित्र दास नर ननुर्वर्ण अर्थ—संपर्क याप
हमारी धातु करे याप ॥ ३० ॥

अथ अथगायः भाषिक दायावा धातु पदान ॥—

अज्ञानाद्व्याधितो दर्पान ममूल्कदाशनेऽममूल्क ।

कायोत्मगः क्षमा क्षान्तिः पंचकं माममूल्के ॥

अर्थ—अज्ञानान् व्याधित या अज्ञानान् एक बार
आर अनेक बार बडादिब यातन प्रणम, तापामग, उपराम,
उपराम, वन्द्यमान, पंचक्याग या मून यापमित्र है ।

माराध—यदा पर बर धातु पंचक्याग है अथवा आदि
शब्द मुझे है इम निष कर्त, पञ्च, वात, मून आदि अथवागुक्त
बीर्जोका ममूल्क है । मूरण, विद्वान् गान्धु आदि ज्ञान करे
माती है । भाष, विज्ञात आदि नातांका पञ्च करे है

मृग, उड़द, राजमाष आदि चीजें चीत कही जानी हैं सोमानन
 (), केरंड (), मूना आदिको मून कहते
 हैं । अज्ञानवश अर्थात् आगमको न जानता हुआ अथवा ये चीजें
 अमामुक हैं ऐसा न जानता हुआ यदि इन कन्द मून, फल
 बीज, आदिको एक बार ग्वाय तो कायोत्सर्ग और बार बार
 ग्वाय तो उपवास प्रायश्चित्त है । आगम अथवा अमामुक जानता
 हुआ भी व्याधिविशेष पीड़ित होकर एक बार ग्वाय तो उपवास
 और बार बार ग्वाय तो कल्याण प्रायश्चित्त है । और अहंकार-
 वश—निःशंक होकर छोलकर रसायन आदिके निमित्त एक
 बार ग्वाय तो पंचकल्याण और बार बार ग्वाय तो मून-पुन-
 र्दत्ता प्रायश्चित्त है ॥ ५३ ॥

कुड्याद्यालंब्य निष्ठूय चतुरंगुलसंस्थितिम् ।
 त्यक्त्वोक्त्वा क्षमणं ग्लाने भुक्ते पष्ठं तथा परे ॥

अर्थ—दीवान, स्तंभ आदिका सहारा लेकर, खकार धूक
 कर, चार अंगुल प्रमाण पैरोंके अंतरको सागकर और कुछ कह
 कर यदि उपवास आदिसे पीड़ित हुआ कोई मुनि भोजन करे
 तो उपवास प्रायश्चित्त है । और यदि उपवासादिसे पीड़ित न
 होकर साधारण अवस्थामें उक्त प्रकारसे भोजन करे तो पष्ठ
 प्रायश्चित्त है ॥ ५४ ॥

काकादिकान्तरायेऽपि भग्ने क्षमणमुच्यते ।
 गृहीतावग्रहे त्यागः सर्वं भुक्तवतः क्षमा ॥ ५५ ॥

अर्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोष, रुधिर देखना, अश्रुपात आदि जो जो मुनि भोजनके अंतराय हैं उनको न टालकर अपनया इन अंतरायोंके आ जाने पर भी भोजन करे तो उपवास प्रार्थश्चित्त है । साग की हुई वस्तुको भक्षण करते हुए फिर उसका स्पर्श हो जाय तो स्पर्श आतेही उसकी साग देना फिर न माना ही प्रार्थश्चित्त है और यदि वह सागकी हुई वस्तु सबकी सब खाची गई हो तो उपवास प्रार्थश्चित्त है ॥ ५५ ॥

महान्तरायमभूतो क्षमणेन प्रतिक्रमः ।

भुज्यमाने क्षते शल्ये पष्ठेनाष्टमतो मुखे ॥ ५६ ॥

अर्थ—भारी अंतरायका सभव होने पर उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भोजन करते हुए हड्डी बगैर दीर्घ पटं तो पष्ठ और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है और मुखमें हड्डी बगैर पालूव पटं तो तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भावार्थ—भोजन करते समय हड्डी आदिमें बिना हुआ भोजन रूप भारी अंतराय आ गया हो और भोजन करनेके अनन्तर मुननेमें आया हो तो उस अपराधका उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । भोजन करते हुए खुद अपने हाथमें हड्डी बगैर देख ले तो पष्ठ और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है तब भोजन करते करते अपने मुखमें हड्डी बगैर समुपनम्य हो तो निरंतर तीन उपवास और प्रतिक्रमण प्रार्थश्चित्त है । यहाँ शल्य द्रव्य उपलब्धार्थ है इसनिष्ठ माना चर्म, रुधिर आदि द्रव्यका भी यही प्रार्थश्चित्त है ॥ ५६ ॥

आधाकर्मणि सव्याधेर्निव्याधेः सकृदन्यतः ।

उपवासोऽथ पष्ठं च मासिकं मूलमेव च ॥ ५७॥

अर्थ—कोई रोगी मुनि, आधाकर्मद्वारा उत्पन्न हुआ भोजन एक बार खाय तो उपवास आठ बार बार खाय तो पष्ठ प्रायश्चित्त है । नया नीरोग मुनि आधाकर्म द्वारा उत्पन्न भोजनको एकबार खाय तो पंचकल्याण और बारबार खाय तो मूल प्रायश्चित्त है । जो भोजन छह निकायके जीवोंकी थाथा-हिसासे उत्पन्न हुआ हो वह आधाकर्म द्वारा उत्पन्न हुआ भोजन कहलाता है ॥ ५७ ॥

स्वाध्यायमिद्वये माधुर्यदुद्देशादि सेवते ।

प्रायश्चित्तं तदा तस्य सर्वदेव प्रतिक्रमः ॥ ५८ ॥

अर्थ—स्वाध्यायसिद्धिके निमित्त यदि साधु उद्देशक आदि दोषोंसे उत्पन्न हुआ भोजन सेवन करे तो उसके लिए सर्वकाल प्रतिक्रम प्रायश्चित्त है । यहाँ पर भी प्रतिक्रम शब्दका अर्थ नियम है ॥ ५८ ॥

एकं ग्रामं चरेद्विक्षुर्गन्तुमन्यो न कल्पते ।

द्वितीयं चरतो ग्रामं सोपस्थानं भवेत्क्षमा ॥ ५९ ॥

अर्थ—एक ग्राममें चर्याके लिए पर्यटन कर उसी दिन भिक्षाके लिए दूसरे ग्रामको जाना उचित नहीं है । यदि कोई मुनि एक गाँवमें भोजनके लिए पर्यटन कर उसी दिन दूसरे

विशेष, पृथ्वीविशेषके ऊपर एकबार मज-मूत्र विमर्जन करे तो कायोत्सर्ग और बार बार करे तो उपवास मायश्चित्त है ॥६२॥

आगे पंचेन्द्रियनिरोधके दोषोंका मायश्चित्त बताने हैं—

स्पर्शादीनामतीचारे निःप्रमादप्रमादिनाम् ।

कायोत्सर्गोपवासाः स्युरेकैकपरिवर्धिताः ॥६३॥

अर्थ—स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंको अपने अपने विषयों-से न रोकनेका अप्रमत्त और प्रमत्त पुरुषके लिए एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग और उपवास मायश्चित्त है । भावार्थ—कठोर, नर्म, भारी, टनका, टंडा, गर्म, चिकना और रूखाके भेदसे आठ प्रकारका स्पर्श है जो स्पर्शन इंद्रियका विषय है । चिर्परा, कडुआ, कपायना, खट्टा, मीठा और खारा ये छह रस हैं जो रसना इंद्रियके विषय हैं । गन्ध दो प्रकारका है सुगन्ध और दुर्गन्ध, जो घ्राणइंद्रियका विषय है । काना, नीला, पीला, सफेद और लाल इस तरह छह प्रकारका रूप है जो नेत्र इंद्रियका विषय है । तथा पड़ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद यह छह प्रकारका शब्द है जो श्रोत्रेन्द्रियका विषय है । इन विषयोंसे पांचों इंद्रियोंको न रोकनेका इस प्रकार मायश्चित्त है । अप्रमत्तके लिए तो एक एक बढ़ते हुए कायोत्सर्ग हैं जैसे—स्पर्शन इंद्रियका एक कायोत्सर्ग, रसनाके दो, घ्राणके तीन, चक्षुके चार और श्रोत्रके पांच कायोत्सर्ग । प्रमत्तके लिए एक एक बढ़ते हुए उपवास हैं जैसे—स्पर्शन इंद्रियको

अथ, अस्नान, क्षितिशयन और अदंतधावन मूलगुणोंमें लगे अपराधोंका प्रायश्चित्त कहते हैं; -

दंतकाष्ठे गृहस्थार्हशय्यासंस्नानसेवने ।

कल्याणं सकृदाख्यातं पंचकल्याणमन्यथा ॥६९॥

अर्थ—एक बार, दंतधावन करने, गृहस्थोंके योग्य शय्या-पर सोने और स्नान करनेका कल्याण प्रायश्चित्त है और बार बार इन्ही कार्योंके करनेका पंच कल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ६९ ॥

अथ स्थिति भोजन और एक मत्त के विषयमें कहा जाता है—
अस्थित्यनेकसंभुक्तेऽदपे दपे सकृन्मुहुः ।

कल्याणं मासिकं छेदः क्रमान्मूलं प्रकाशतः ॥

अर्थ—व्याधिवश, एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका कल्याण प्रायश्चित्त और बार बार बैठकर भोजन करने, अनेक बार भोजन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त है तथा सोगोंके देखते हुए अहंकारमें ब्रह्म होकर एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका प्रश्रयच्छेद प्रायश्चित्त और बार बार ऐसा करनेका मूल-पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है । भावार्थ—रोगवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार, स्थिति भोजन व्रत और एक मत्त व्रतका भंग करनेपर उक्त प्रायश्चित्त है ॥ ७० ॥

समितीन्द्रियलोचेषु भूशयेऽदंतधर्पणे ।

कायोत्सर्गः सकृद्भूयः क्षमणं मूलमन्यतः ॥

अब, अस्नान, क्षितिशयन और अर्द्धतथावन मूलगुणोंमें लगे अपराधोंका प्रायश्चित्त कहते हैं; -

दंतकाष्ठे गृहस्यार्हशय्यासंस्नानसेवने ।

कल्याणं सकृदाख्यातं पंचकल्याणमन्यथा ॥६९॥

अर्थ—एकबार, दंतधावन करने, गृहस्थोंके योग्य शय्या पर सोने और स्नान करनेका कल्याण प्रायश्चित्त है और बार बार इन्ही कार्योंके करनेका पंच कल्याण प्रायश्चित्त है ॥ ६९ ॥

अब स्थिति भोजन और एकभक्तके विषयमें कहा जाता है—

अस्थित्यनेकसंभुक्तेऽदर्पे दर्पे सकृन्मुहुः ।

कल्याणं मासिकं छेदः क्रमान्मूलं प्रकाशतः ॥

अर्थ—व्याधिवश, एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका कल्याण प्रायश्चित्त और बार बार बैठकर भोजन करने, अनेक बार भोजन करनेका पंचकल्याण प्रायश्चित्त है तथा सांगोंके देखते हुए अहंकारमें घृष्ट होकर एक बार बैठकर भोजन करने और अनेक बार भोजन करनेका मध्यप्राच्छेद प्रायश्चित्त और बार बार ऐसा करनेका मूल-मुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है । भावार्थ—रोगवश और अहंकारवश एक बार और अनेक बार, स्थिति भोजन वत और एक भक्त वतका भोग करने पर उक्त प्रायश्चित्त है ॥ ७० ॥

समितीन्द्रियलोचेषु भूशयेऽदंतधर्पणे ।

कायोत्सर्गः सकृद्भूयः क्षमणं मूलमन्यतः ॥

तत्प्रतिष्ठा च कर्तव्याभावकाशे पुनर्भवेत् ।
चतुर्विधं तपश्चापि पञ्चकल्याणमन्तिमं ॥ ७४ ॥

अर्थ—उन स्थान, धान भवप्रद आदि योगांसी पुनर्भव-
स्थापना भी करना चाहिए अर्थात् प्रापश्चित देकर फिर भी
उन्हीं योगोंमें स्थापित करना चाहिए । तथा भस्त्रावकाश पाप
के भंग होनेपर आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय और स्थान-
विभेद और गणविभेद एवं दानों तरहका विवेक प्रापश्चित है ।
और पुनर्भवन, निर्विकृति, परस्थान, आचाम्न, उपवास,
कल्याण, वैशा, नेमा, चांजा, पञ्चानाका आदि लेकर अन्तिम
पञ्च कल्याण पर्यन्तका तप प्रापश्चित भी है ॥ ७४ ॥

सकृदप्राप्तुकामेवेऽमकृन्मोहादहंकृतेः ।
क्षमणं पञ्चकं मासः शोपस्थानं च मूलकं ॥

अर्थ—अज्ञानवश प्रसन्न स्थान आदि जीवोंमें व्याप्त वस-
निका आदि प्रदेशोंमें एक बार निवास करने पर उपवास और
बार बार निवास करने पर कल्याण प्रापश्चित है । तथा अहं-
कार वश एक बार निवास करनेपर प्रतिक्रमण और पञ्चकल्याण
प्रापश्चित और बार बार निवास करने पर मूलप्रापश्चित है ॥

ग्रामादीनामजानानो यः कुर्यादुपदेशनं ।
जानन् धर्माय कल्याणं मासिकं मूलगः स्मये ॥

अर्थ—जो मुनि, ग्राम, पुर, पर, वसति आदिके जनानेमें

अष्टम (तीन उपवास) दशम (चार उपवास) द्वादश (पांच उपवास) अर्धमासोपवास, मासोपवास, पण्मासोपवास, संवत्सरोपवास आदि हैं उसके अनन्तर दिवसादिक के क्रमसे दीक्षाच्छेद है उसके अनन्तर सर्वोत्कृष्ट मूलप्रायश्चित्त है ॥७१॥

इस प्रकार मूलगुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त कहा गया अब उत्तर गुणोंमें संभव दोषोंका प्रायश्चित्त बताते हैं;—

हुमूलातोरणौ स्थासू आतापस्तद्व्यात्मकः ।
चलयोगा भवन्त्यन्ये योगाः सर्वेऽथवा स्थिराः ॥

अर्थ—वृत्तमूल और अनारण्य ये दो योग स्थिर योग हैं। आनापन योग चन और स्थिर दोनों तरहका है। और शेष अभ्यासकाश, स्थान, मौन और वीरासन ये चार योग चल योग हैं। अथवा सभी योग स्थिर योग हैं ॥ ७२ ॥

भंजने स्थिरयोगानामपस्कारादिकारणात् (?) ।
दिनमानोपवामाः स्युरन्येषामुपवासना ॥७३॥

अर्थ—नेत्र दर्द, पेट दर्द, शिरः गून, विद्युच्छिन्ना, सर्वापसर्गादि, यन्त्र आदि कारणोंमें स्थिर योगोंका भंग हो जाए तो योग पूर्तिके जितने दिन अवशिष्ट रह गये हों उतने उपवास प्रायश्चित्त हैं। तथा अन्य स्थान, मौन, अश्रद्ध आदि योगोंका भंग होनेपर आनापनाको आदि प्रकार मतिक्रमण गति इत्यादि पर्वण प्रायश्चित्त है ॥ ७३ ॥

दोषोंको न जानता हुआ उनके बनानेका उपदेश करता है वह कल्याण मायश्चित्तको प्राप्त होता है । दोषोंको जानता हुआ उनके आरंभका उपदेश करता है वह पंचकल्याण मायश्चित्तका मागी है तथा गर्व-अहंकारमें दूर होकर जो ग्राम आदिका उपदेश करता है वह मून मायश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

आलोचना तनूत्सर्गः पूजोद्देशोऽप्रबोधने ।

सोपस्थाना सकृद्देया क्षमा कल्याणकं मुहुः ॥

अर्थ—पूजा संबंधी आरंभके दोषोंको न जाननेवाले मुनि-को एकबार पूजाका उपदेश देने पर आरंभका परिमाण जान कर आलोचना अथवा कायात्सर्ग मायश्चित्त प्रतिक्रिया सखि उपवास पर्यंत दे तथा बार बार पूजोपदेश दे तो कल्याणक मायश्चित्त दे । भावार्थ—जो मुनि पूजाके आरंभसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको नहीं जानता है वह यदि एकबार दृढस्योसे पूजाका आरंभ करावे तो उसे आरंभके अनुसार आलोचना अथवा कायात्सर्ग मायश्चित्तको आदि लेकर उपवास पर्यंत मायश्चित्त दे आर बारबार आरंभ करावे तो कल्याणक मायश्चित्त दे ॥

जाननम्यापि मंशुद्धिः सकृन्नामकृदेव च ।

सोपस्थानं हि कल्याणं मामिकं मूलमावधे ॥

अर्थ—जो मुनि पूजाप्रभे गन्त दोषोंको जानता हो वा यदि पूजाके आरंभका एक बार उपदेश दे तो उसके उक्त अर्थ-

अथ—जीव-जन्तु रक्षित प्रदंशमें संयोगको न शोधकर मोये हुए अमपचा मुनिको कायोन्मग प्रायश्चित्त और प्रपचा मुनिको उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा जीव-जन्तुघोमि पुक्त प्रदंशमें संयोगको न शोधकर मोये हुए अमपचा मुनिको उपवास और प्रपचाको दल्ल्याग प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८३ ॥

लोहोपकरणे नष्टे म्यात् क्षमांगूलमानतः ।
केचिद्नांगुलेरुचुः कायोन्मगः परोपयो ॥ ८४ ॥

अथ—गुर्द, नरनी, लुटा आदि सोदको लीजें नष्ट कर देने पर जितनी घांगुलही व सोज हो उत्तने उपवास प्रायश्चित्तमें देने चाहिए । कोई कोई आचार्य पनागमक रिवाजमें उत्त चीजकि नाशका प्रायश्चित्त बतात १ अर्थात् व बहने १ कि उत्त नाश किये गये सोदापकरणाक जितन पनागुव हो उत्तने उपवास प्रायश्चित्तमें देने चाहिए । तथा रथारा, पिन्डी, बघरुआ आदि दुर्गमो पात्रे नाश कर देने पर कायोन्मग प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८४ ॥

रूपाभिघातने चित्तदूषणे ननुमर्जने ।

स्वाध्यायस्य क्रियादानावेवंमेव निरुज्यते ॥ ८५ ॥

अर्थ—भिक्षा वागत आदि पर जायत अनुष्य आदि प्रतिविषोका नाश करने पर, विषयाभिलाष आदि हुए धर्म-कार्यक करने पर, और स्वाध्याय क्रियाही रहनि करने पर कायोन्मग प्रायश्चित्त देना ग्या है ॥ ८५ ॥

अर्थ—मुख घोते हुए साधुके मुखमें यदि जलकी घृद चनी
माप तो उसको भ्रानाचना, कायोत्सर्ग, आर प्रतिक्रमण सहित
उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ ८६ ॥

आगंतुकाश्च वास्तव्या भिक्षाशय्योपधादिभिः ।
अन्योन्यागमनाद्यैश्च प्रवर्तते स्वशक्तिः ॥ ९० ॥

अर्थ—आगंतुक परगणमें आये हुए मुनि, और वास्तव्य-
अपने गणमें रहनेवाले मुनि, दोनों परस्परमें चर्चा, श्रवण,
औपच्य, आपृच्छा, भ्रानाचना, व्याख्यान, वात्मव्य, संभाषण
इत्यादि द्वारा तथा परस्पर एक दूसरेको देखकर जाना-भ्राना,
विनय करना, खड़े होना इत्यादि द्वारा अपनी अपनी शक्तिके
अनुसार प्रवृत्ति करें ॥ ९० ॥

विधिमेवमतिक्रम्य प्रमादाद्यः प्रवर्तते ।
तस्मात् क्षेत्रादसौ वर्षमपनेयः प्रदुष्टधीः ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रमादके बशीभूत होकर उक्त विधानका
उल्लङ्घन कर अपनी प्रवृत्ति करें उस दृष्टिवादि मुनिको उस
क्षेत्रसे वर्ष भरके लिए निकाल देना चाहिए ॥ ९१ ॥

शिलोदरादिके सूत्रमधीते प्रविलिख्य यः ।
चतुर्थालोचने तस्य प्रत्येकं दंडनं मतं ॥ ९२ ॥

अर्थ—पत्थरकी शिला, उदर, आदि शब्दसे भूमि, भुजा, जंघा
आदिके ऊपर शास्त्र लिखकर जो कोई मुनि अभ्यास करे

उनके पर पर औरोंके देखते हुए बारबार भोजन करनेवाचा मुनि नियमसे पुनर्दीक्षा प्रापश्चित्तको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

चतुर्विधमद्याहारं देयं यः प्रतिपेधयेत् ।

प्रमादाद्दृष्टभावाच्च क्षमोपस्थानमामिके ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो मुनि, देनेयोग्य, अन्न, पान, स्वाद्य, स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारके आहारका भुजने निषेध करे तो उसके लिए उपवास प्रापश्चित्त और द्वे पञ्च निषेध करे तो प्रतिक्रमणपुत्रक पंचकल्याण प्रापश्चित्त है ॥ ६५ ॥

ज्ञानोपध्यापधं चाथ देयं यः प्रतिपेधयेत् ।

प्रमादेनापि मासः स्यात् माध्वावाममथो मुहुः ॥

अर्थ—जो कोई मुनि, ज्ञानोपकरण पुस्तक अथवा औषध जो कि देनेयोग्य है उनका एक बार भी निषेध करे तो उसके लिए पंचकल्याण प्रापश्चित्त है और यदि साधुओंको देने योग्य वसति आदिका भी निषेध करे तो यही प्रापश्चित्त है ॥

चतुर्विधं कदाहारं तैलाम्लादि न वल्भते ।

आलोचना तनूत्सर्ग उपवासोऽस्य दंडनं ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो व्याधि आदि कारणोंके शिना भी देनेयोग्य चार प्रकारके कुत्सित आहारका अथवा तन काजिक आदिकों नहीं खाता है उसके लिए आलोचना कायात्मग और उपवास से प्रापश्चित्त है ॥ ९७ ॥

उसके निष् प्रतिग्रहणमहित उपवास मायश्चित्त है और ब्रह्म
विरोधन आदि चिकित्सा करने पर भी यही मायश्चित्त है ॥१००॥

चंडालसंकरे स्पृष्टे पृष्टे देहेऽपि मासिकं ।

तदेव द्विगुणं भुक्ते गोपस्थानं निगद्यते ॥१०१॥

अर्थ—चांदाल आदिने भिषने पर तथा उने पर पाप्यर देह
मिटने पर भी पंचगव्याणा मायश्चित्त है । तथा बिना जाने
चांदाल आदिके हाथसे दिया हुआ भोजन भेने पर अथवा
चांदालोंको देव भेने पर भी भोजन करने या बही पूर्वोक्त
मायश्चित्त प्रतिग्रहणमहित हुआ करा गया है आर्षात् प्रति-
ग्रहणमहित हा एव ब्रह्मणः मायश्चित्त है ॥ १०१ ॥

असंतं वाय संतं वा छायापातमवाप्नुयान् ।

यत्र देशे न मोक्तव्यः प्रायश्चित्तं भवेदपि ॥

अर्थ—जिस देशमें अपवातविह अथवा वातविह अपवात-
को प्राप्त हो कर देह छोड़ देना चाहिए, वही मायश्चित्त है ।

आशय—जिस देशमें अपवात हो कर अपवात पड़े तो गेर-
हीक हो या हीक ही अतः उस देशको छोड़ देना ही समाप्त
मायश्चित्त है ॥ १०२ ॥

दोषानालोचितान् पापो यः साधुः समश्नादायैव ।

मासिकं तस्य दातव्यं निधयोऽहं ददन् ॥१०३॥

अर्थ—जो साधु साधु भुक्ते निवृत्त हिंस्र हाथोंको

त्रिषु वर्णेष्वेकतमः कल्याणांगः तपःसहो वयसा ।
सुमुखः कुत्सारहितः दीक्षाग्रहणे पुमान् योग्यः ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंमेंसे कोईसा भी
एक मोक्षका अधिकारी है, वही वर्णके अनुसार तपश्चरण करने
वाला सुन्दर और ग्लानिरहित दीक्षा ग्रहणके योग्य है ॥ १०६ ॥

न्यक्कुलानामचैकदीक्षादायी दिगम्बरः ।

जिनाज्ञाकोपनोऽनन्तमंसारः समुदाहृतः ॥ १०७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीनों वर्णोंसे
बहिर्भूत नीच कुली—गृध्र आदिको सम्पूर्ण जगतमें प्रधानमूल
निग्रन्थ-दीक्षा देनेवाला दिगम्बर साधु सर्वज्ञके वचनोंके प्रति-
कूल है और अनन्तसंसारि है ॥ १०७ ॥

दीक्षां नीचकुलं जानन् गौरवाच्छिष्यमोदतः ।
यो ददात्यय गृह्णाति धर्मोद्दाहो दयोरपि ॥

अर्थ—जो आचार्य, नीचकुल वाला जानकर भी उस नीच
कुलीको आर्द्धिकं गर्वसे अथवा-शिष्य बनानेकी अभिनायासे
दीक्षा देता है और जो नीचकुली निग्रन्थ दीक्षा देता है उन
दोनोंहीका यय दूषित है ॥ १०८ ॥

अजानाने न दोषोऽस्ति ज्ञाते सति विवर्जयेत् ।
आचार्योऽपि स मोक्तव्यः माधुर्वर्गेरतोऽन्यथा ॥

अर्थ—जो कोई आचार्य नीच कुलीको नीच कुली न

कर दीक्षा देदे तो दोष नहीं परंतु जान लेने पर उसे छोड़ देना चाहिए यदि वह आचार्य उस नीच कुलीको न छोड़े तो अन्य साधुओंको चाहिए कि वे उस नीच कुलीको दीक्षा देनेवाले आचार्यको भी छोड़ दें ॥ १०६ ॥

शिष्ये तस्मिन् परित्यक्ते देयो मासोऽस्य दंडनं ।
चांडालाभोज्यकारुणां दीक्षणे द्विगुणं च तत् ॥

अर्थ—उस अकुलीन शिष्यके छोड़ देने पर इस आचार्यको पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा मंगी चमार आदिको और अभोज्य कारुणों—धोबी, बढ़वा, कनान आदि को दीक्षा देने पर वह पूर्वोक्त पंचकल्याण प्रायश्चित्त द्वा. देना चाहिए ॥ ११० ॥

अनाभोगेन चेत्सूरिदोषमाप्नोति कुत्रचित् ।
अनाभोगेन तच्छेदो वैपरीत्याद्विपर्ययः ॥ १११ ॥

अर्थ—यदि आचार्य कहीं भी अपकाग्र रूपसे दोषको प्राप्त हो तो उसको अपकाग्ररूपमें ही प्रायश्चित्त देना चाहिए और यदि प्रकाग्ररूपमें दोषका प्राप्त हो तो उसको प्रकाग्ररूपमें ही प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥ १११ ॥

क्षुद्रकानां च शेषाणां द्विगप्रभ्रंशने सति ।
तत्सकाशे पुनर्दीक्षा मूलात्पापं डिचेलिनाम् ॥

अर्थ—क्षुद्रक-मर्वादिष्ट आचरकोंको भी द्विगी कारणवश उनकी दीक्षाका मंग हो जाने पर त्रिगके पास परने दीक्षा भी

शुद्धि

हो उनीके पास फिर भी दीक्षा लेना चाहिए, अन्य धार्मिकों
 पास नहीं। निम्नलिखित निम्नलिखित धर्म, विष्णुहृष्टि
 शृङ्खला और श्रावक इनका मूल (धर्म) में हो दीक्षा है मतः
 ये बाँट जहाँ दीक्षा में मरते हैं ॥ ११२ ॥

कुलीनकुलकेष्वेव मदा देयं महाव्रतं ।
 महेश्वरनोयस्तेषु गणैरेण गणेच्छुना ॥ ११३ ॥

अर्थ—गल्लानि विराट्ना प्रायणीमें प्रायणीसे, चरित्रा-
 गीमें चरित्रा और बंध्य मीमें बंध्यमें उत्पन्न हुए पुरुषके हो
 मान्यता और पितृपुत्र ये दोनोंकुल विरुद्ध हैं मतः इन
 विरुद्ध उभय कुलोंमें उत्पन्न हुआ तुल्यक निम्नलिखित किर्त्यन
 आदि कारणोंके बर तुल्यक मत धारण कर रक्त्वा हो वह
 मयाधिपत्य करनेमें तय्य हो तब उसे निम्नलिखित दीक्षा देना
 चाहिए। परन्तु जो प्रायणी, चरित्रा और बंध्यके विरुद्ध उभय-
 कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है उस तुल्यकको कभी भी निम्नलिखित
 दीक्षा नहीं देना चाहिए ॥ ११३ ॥

इस तरह श्रुति प्रायश्चित्त पृथक् हुआ अथ धार्मिकोंका
 प्रायश्चित्त बताते हैं :-

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च ।
 दिनस्थानत्रिकालेन प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥

अर्थ—जो प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कहा गया है वैसे
 ही धार्मिकोंके लिए कहा गया है, विशेष इतना है कि

प्रतिमा, त्रिकालयोग चकारसं ग्रथवा ग्रन्थान्तरोंके अनुसार पर्यायच्छेद, मूत्रस्थान, तथा परिहार ये प्रायश्चित्त भी आर्थिकाओंके लिए नहीं हैं ॥ ११४ ॥

समाचारसमुद्दिष्टविशेषभ्रंशने पुनः ।

स्थैर्यास्थैर्यप्रमादेषु दर्पतः सकृन्मुहुः ॥ ११५ ॥

अर्थ—बिना प्रयोजन पर घर जाना, अपने स्थानमें या पर स्थानमें रोना, बालकोंको स्नान कराना, उन्हें भोजन-पान कराना, भोजन बनाना, छह प्रकारका आरंभ करना आदि जो विशेष कथन समाचार क्रियामें आर्थिकाओंके लिए किया गया है उसका स्थिर, अस्थिर, प्रमाद और भटंकारवश एक बार और बहु बार भंग करने पर नीचे निम्ना प्रायश्चित्त है ।
भावार्थ—स्थिर और अस्थिर आर्थिकाओंके प्रमादवश और भटंकारवश एक बार और बार बार समाचार क्रियामें दोष लगने पर क्रममें नीचे निम्ना प्रायश्चित्त है ॥ ११५ ॥

कायोत्सर्गः क्षमा क्षांतिः पंचकं पंचकं क्रमात् ।

पष्टं पष्टं ततो मूलं देयं दक्षगणेशिना ॥ ११६ ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त देनेमें चतुर आचार्य, स्थिर आर्थिकाको प्रमादवश एक बार समाचार क्रियामें दोष लगाने पर कायोत्सर्ग और बार बार दोष लगाने पर उपशम प्रायश्चित्त दे, दर्पवश एक बार दोष लगाने पर उपशम और बार बार दोष लगाने पर उपशम प्रायश्चित्त दे, और अस्थिर आर्थिकाको

तारुण्यं च पुनः स्त्रीणां षष्टिवर्षाण्यनूदितं ।

तावन्तमपि ताः कालं रक्षणीयाः प्रयत्नतः ॥

अर्थ—स्त्रियों की यौवनावस्था साठ वर्ष तक की कही गई है इसनिष्ठ साठ वर्ष तक प्रयत्नपूर्वक आयुर्वाधा की रक्षा करना चाहिए ॥ १२० ॥

दोषेण संयुताथार्या विधत्ते दंतधावनं ।

रसानां स्यात् परित्यागश्चतुर्मासानमंशयं ॥

अर्थ—यदि जा कोई भी आयुर्वाधे परित्याग करे तो उसके लिए चार महीने तक रसों का होकर दंतधावन करे तो उसके लिए चार महीने तक रसों का परित्याग प्रायश्चित्त है ॥ १२० ॥

अब्रह्मसंयुता क्षिप्रमपनेयापि दंशतः ।

सा विशुद्धिर्विहिर्भूता कुलधर्मविनाशिनः ॥

अर्थ—अब्रह्मसंयुता क्षिप्रमपनेयापि दंशतः सा विशुद्धिर्विहिर्भूता कुलधर्मविनाशिनः ॥ १२० ॥

तद्दोषभेदवादोऽपि पंडितानां न कल्पते ।

अन्योक्तं लक्षणीयं न तत्प्रहेयं प्रयत्नतः ॥ १२१ ॥

अर्थ—तद्दोषभेदवादोऽपि पंडितानां न कल्पते । अन्योक्तं लक्षणीयं न तत्प्रहेयं प्रयत्नतः ॥ १२१ ॥

मो इसके दोष नहीं ग्रहण करता है इस प्रकार अच्छी तरह जान
मे ॥ १२८ ॥

१. शपथं कारयित्वाथ क्रियामपि विशेषतः ।

बहूनि क्षमणान्यस्य देयानि गणधारिणा ॥ १२९ ॥

अर्थ—अनन्तर उसमें शपथ कराकर और विशेष विशेष
प्रतिक्रिया कराकर उसके बहुतसे उपवास प्रायश्चित्त दे ॥

द्रव्यं चेद्दस्तंगं किञ्चिद्गन्धुभ्यो विनिवेदयेत् ।

तदास्याः पष्टमुद्दिष्टं गोपस्थानं विशोधनं ॥

अर्थ—यदि आधिकारिक भस्म साना, चांदी आदि कुछ भी
द्रव्य हो और वह उस द्रव्यको अपने चतुर्भांगों देवे तो उस
वक्त उसके लिए प्रतिक्रिया सहित पष्टोपवास प्रायश्चित्त है ॥

येन केनापि तद्द्रव्यं पुनर्द्रव्यं च किञ्चन ।

वैयावृत्यं प्रकर्तव्यं भवेत्तत्र प्रयत्नतः ॥ १३१ ॥

अर्थ—जिस किसी भी उपायमें कुछ भी द्रव्य आधिकारिक
पिने तो उस द्रव्यमें घमसाणियों का प्रयत्नपूर्वक उपकार करना
चाहिए । यही उसके लिए प्रायश्चित्त है ॥ १३१ ॥

आतरं पितरं मुक्त्वा चान्येनापि मधमेणा ।

स्थानगत्यादिकं कुर्यात् सधर्मा छेदभागपि ॥

अर्थ—पिता और भाईको छोड़कर, यदि आधिकारिक अन्य
गुरुको जाने दीजिये साधर्मी गुरुभाईके साथ भी कापोत्सर्ग,

अर्थ—रजस्वनाके समय आर्थिका समता, स्तव, वन्दना, निवेदन, प्रसाख्यान और कायोत्सव इन छह आवश्यक क्रियाओंको मीनपूर्वक कर और शुद्ध हो जानेके पश्चात् गुरुके समीप जाकर व्रत ग्रहण कर ॥ १३५ ॥

स्नानं हि त्रिविधं प्रोक्तं तोयतो व्रतमंत्रतः ।
तोयेन स्याद् गृहस्थानां साधूनां व्रतमंत्रतः ॥

अर्थ—स्नान तीन प्रकारका कहा गया है जनस्नान, व्रतस्नान और मंत्रस्नान । जनस्नान गृहस्थ करते हैं तथा व्रतस्नान और मंत्रस्नान साधु करते हैं । व्रतस्नान और मंत्रस्नान यह साधुओंकी परमायें शुद्ध हैं । परन्तु चांदान आदिका स्पर्श हो जाने पर व्रतपानने हुए उनको जनमें भी व्यवहार शुद्ध करना चाहिए ॥ १३६ ॥

इस प्रकार आर्याओंका प्रायश्चित्त कहकर श्रावकोंका प्रायश्चित्त कहते हैं—

श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकाणां तदेव हि ।
द्वयोरपि त्रयाणां च पण्णामघार्घहानितः ॥ १३७ ॥

अर्थ—जो प्रायश्चित्त साधुओंके लिए कह आये है वही ब्रह्मसे दो, तीन और छह श्रावकोंके लिए आया आया है । भावार्थ—श्रावक ग्यारह तरहके होते हैं । उनमेंसे उद्दिष्ट सागो और अनुमातसागी इन दो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिये मुनिप्रायश्चित्तसे आया प्रायश्चित्त है । परिग्रहसागी, भारंमसागी और ब्रह्मचारी इन तीन मध्यम श्रावकोंके लिए उत्कृष्ट श्रावकोंके

प्रायश्चित्तं आधा प्रायश्चित्तं है और दिवामेयुनत्यागो, सचिव त्यागो, प्रोपधोपवास करनेवाला, सामायिक करनेवाला, वनिक और दार्शनिक इन छह जघन्य श्रावकोंके लिए उन मध्यम तीन श्रावकोंके प्रायश्चित्तमें आधा प्रायश्चित्त है ॥ १३७ ॥

केचिदाहुर्विशेषेण त्रिष्वप्येतेषु शोधनं ।

द्विभागोऽपि त्रिभागश्च चतुर्भागो यथाक्रमं ॥

अर्थ—कोई आचार्य इन तीनों तरहके श्रावकोंका प्रायश्चित्त दूसरीही तरहसे कहते हैं । ये कहते हैं कि साधु प्रायश्चित्तने आधा प्रायश्चित्त तो उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए है । साधुके प्रायश्चित्तका ही तीसरा हिस्सा प्रायश्चित्त मध्यम श्रावकोंके लिए है और साधुके प्रायश्चित्तका ही चौथा हिस्सा प्रायश्चित्त जघन्य श्रावकोंके लिए है ॥ १३८ ॥

पण्णां म्याच्छ्रवकाणां तु पंचपातकसंनिधौ ।

महामहो जिनैन्द्राणां विशेषेण विशोधनम् ॥

अर्थ—यद्यपि सभी श्रावकोंका प्रायश्चित्त ऊपर कह चुके हैं तो भी छह जघन्य श्रावकोंका प्रायश्चित्त और भी विशेष है सोही कहते हैं । गारुड, स्त्रीत्याग, यालयान, श्रावकविनाश और श्रृंगिषियान ऐसे पांच पापोंके बल ज्ञान पर जघन्य श्रावकोंके लिए जिन भगवान्‌का मरामद करना यह विशेष प्रायश्चित्त है ॥ १३९ ॥
आदावन्ते च पष्टं स्यात् क्षमणान्येकविंशतिः ।
प्रमादाद्भेदधे शुद्धिः कर्तव्या शल्यवर्जितैः ॥

का विधान करने पर उपवास, मत्प अचौर्य, स्वदारगंभीर और परिग्रह परिमाणप्रवृत्ति भंग होने पर पट्ट प्रायश्चित्त, गुणव्रत और शिष्टाचरणें क्षति पहुँचने पर उपवास प्रायश्चित्त तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें दोष लगने पर जिनपूजन प्रायश्चित्त होता है । भावार्थ — सब व्रतोंमें सब दोष पसत हैं सा हो कहते हैं । अतिक्रम, व्यतिक्रम अतीचार, अनाचार और अभोग ये पाँच मूलदोष हैं इनका अर्थ जरद्वयन्यायसे कहते हैं । जरद्वय नाम घटे खेनका है । जमे कोई एक घूटा खेन भण्डा दराभरा धान्यका खेन देव कर उस खेनकी वृत्ति (बाढ़) के पास खड़ा हुआ उस धान्यके खानेकी इच्छा करता है मो अतिक्रम है । फिर बाढ़के छेदमें मुक्त होकर एक ग्राम लू पड़ जाँ उसकी इच्छा है सो व्यतिक्रम है फिर खेतकी बाढ़ का उल्लंघ जाना अतीचार है फिर खेतमें जाकर एक प्राय खेकर पुनः बापिप निकल आना अनाचार है तथा फिर भी खेतमें पुनः कर निःशंक खेद मत्प करना, खेतके मानिक द्वारा दंडमे पिटना आदि अभोग है । इसी प्रकार व्रतादिकोंमें सबकता आदिप । मत्पेक व्रतमें ये पाँच पाँच दोष पाये जा सकते हैं । ऊपर बारद्वय और नीचे अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, अनाचार और अभोग इन पाँच दोषोंको रखना आदिप । इनकी संरष्टि यह है—

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५

सूत्र इन शास्त्रानिपातके अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, अनाचार और अभोग इस तरह मत्प बाधव्रतकी पंच उच्चारणा